महिला उपन्यासकारों के प्रतिनिधि उपन्यासों का कथ्य एवं विमर्श

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

की

पी-एच० डी० उपाधि हेतु

हिन्दी विषय में
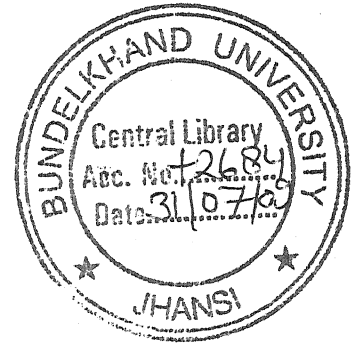
प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध निर्देशक :

डॉ0 एन0 डी0 समाधिया,
पी–एच0डी0, डी0लिट्0,
प्राचार्य
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
उरई, जालौन

अनुसंधित्सु :

अर्चना व्यास,
363 राजेन्द्र नगर, उरई,
जालौन

2002

डॉ० एन० डी० समाधिया
(पी-एच०डी०,डी०लिट्०)
प्राचार्य
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई, जालौन
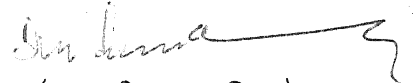
दूरभाष : 55492 आवास
: 52214 आफिस

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि अनुसंधित्सु **अर्चना व्यास** ने 200 दिनों से अधिक अवधि तक उपस्थित रहकर मेरे निर्देशन में **"महिला उपन्यासकारों के प्रतिनिधि उपन्यासों का कथ्य एवं विमर्श"** शोध प्रबन्ध पूर्ण किया है। इन्होंने विश्व विद्यालयीन शोध-परिनियमावली के समस्त उपबन्धों की पूर्ति की है।

मैं इस मौलिक शोध प्रबन्ध को शोध विशेषज्ञों के समक्ष परीक्षार्थ प्रस्तुत करने की अनुशंसा करता हूँ।

(एन०डी० समाधिया)

महिला उपन्यासकारों के प्रतिनिधि उपन्यासों का कथ्य एवं विमर्श

भूमिका :

जीवन के विविध क्षेत्रों की भाँति साहित्यिक क्षेत्र में भी नारी का महत्वपूर्ण स्थान है। उषा देवी मित्रा के पूर्व के उपन्यासों में नारी के परिवेश, मानसिकता, अन्तर्द्वन्द्व, आह्लाद, सोच और संवेदना उसके बहिरंग और अन्तरंग का चित्रांकन, पुरुष उपन्यासकारों द्वारा होता था। अब नारी भी उपन्यास विधा के माध्यम से जीवन से सम्बन्धित विविध क्षत्रों के परिप्रेक्ष्य अपने उपन्यास की कथा वस्तु में अनुस्यूत वातावरण, पात्र तथा परिस्थितियों के सन्दर्भ में करने लगी। जीवन और जगत से सम्बन्धित प्रत्येक घटना, विचार, वस्तु और भाव इन नारी उपन्यासकारों का कथ्य है। पुरुष उपन्यासकारों की तुलना में नारी उपन्यासकार नारी जीवन से सम्बन्धित मर्मस्पर्शी बिन्दुओं को पहचानने और महत्व देने में स्वाभाविक रूप से ज्यादा सफल हुई है। समाज में नारी के व्यापक तथा बहुआयामी धरातल को दृष्टिपथ पर रखते हुए समकालीन परिस्थितियों से उपजे तथा परम्परा से पोषित बहुत सारे सवाल हैं; जिनका ईमानदार उत्तर पुरूष उपन्सासकारों की तुलना में नारी–लेखनी ही ज्यादा बेहतर दे सकती थी। भूमण्डलीकरण से प्रभावित वर्तमान संस्कृति, सर्वत्र विकीर्ण होता वैज्ञानिक आलोक, उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित हो रही सम्वेदनायें, परिवर्तित तथा परिशोधित हो रहे जीवन मूल्य, परिवर्तित हो रही नैतिकता तथा नारी में विकसित हो रहा अस्मिता बोध नारी लेखन के माध्यम से नारी उपन्यासों में **विवक्षित** है। नारी की निजस्विनी दृष्टि से अनुप्राणित होकर ये तत्व भोगे हुए यथार्थ की प्रभविष्णुता के कारण पाठक की चेतना की गहराइयों में प्रविष्ट हो जाते हैं। नारी की अन्तःसत्ता

की संवेदना से प्रादुर्भूत अनन्त मार्मिक अनुभूतियाँ चेतना को सराबोर कर देती, हैं। जीवन के अनेक नये संदर्भ आविर्भूत हुए है। इस उपक्रम में नारी लेखिकाओं द्वारा सहज ही ऐसे बहुत सारे कथ्य तलाशे गये हैं, जिनके विमर्श की प्रक्रिया में नारी चेतना की समस्तता तथा परिवेशगत यथार्थ की अभिव्यक्ति को नारी उपन्यासों में जीवन्त किया जा सका है। कई बार ये लेखिकायें मर्यादा तथा नैतिकता की लक्ष्मण रेखायें लांघती प्रतीत होती हैं, किन्तु यही तो वह कारगर उपाय है, जिसके माध्यम से युगीन यथार्थ के अदृश्य परिपार्श्व प्रकाश में आ सके।

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में नारी उपन्यासकारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बदलती परिस्थितियों के संदर्भ में नारी की परिवर्तित मनोदशा तथा नारी उपन्यासकारों की प्रेरणाभूमि को अनुसंधानित किया गया है। द्वितीय अध्याय में नवसृजित जीवन मूल्यों का संश्लेष्णात्मक अध्ययन तथा समकालीन नारी उपन्यासकारों की कृतियों में बदलते परिवेश के परिप्रेक्ष्य में नारी युग–बोध को प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में समकालीन नारी उपन्यासकारों पर संदर्भ–दृष्टि तथा मृदुला गर्ग, उषा प्रियंबदा, सुधा गोयल, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, ममता कालिया, श्रीमती गौरापन्त शिवानी के प्रतिनिधि उपन्यासों–उसके हिस्से की धूप, चित्तकोबरा, पचपन खम्भे लाल दीवारें, रूकोगी नही राधिका, भूमिजा, पटाक्षेप, अलाव, महाभोज, आपका बन्टी, डार से बिछुड़ी, मित्रों मरजानी, नरक–दर–नरक, बेघर, कृष्णकली, चौदह फेरे उपन्यासों का कथ्यात्मक समालोचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में नारी उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी के विविध रूप, रेखांकित किये गये हैं। पंचम अध्याय में समकालीन उपन्यासों में चित्रित नारी के रूपों की वहिरंग प्रासंगिकता, नारी और उसका परिवार, व्यक्तिगत मानसिकता

के संदर्भ में नारी आधुनिकता और परम्परा के द्वन्द्व में जूझती नारी की मानसिकता, युगीन संत्रास, कुण्ठा, आक्रोश और टूटन के संदर्भ में नारी, की मानसिकता तथा नैतिकता–अनैतिकता के संदर्भ में चित्रित नारी की मानसिकता के गवेष्णापरक विवेचन प्रस्तुत किये गये हैं। षष्ठ अध्याय में शोध कार्य के उपसंहार एवं उपलब्धि को अभिव्यंजित किया गया है।

इस शोध कार्य के लिए मैं अपने शोध निर्देशक डॉ0 एन0डी0 समाधिया, प्राचार्य डी0 वी0 कालेज, उरई के प्रति हृदय से आभारी हूँ। उनकी सद्प्रेरणा से मैं अनुसंधान कार्य में प्रवृत्त हो सकी। एक दो मुलाकातों में ही उन्होने विषय का सम्यक् प्रतिपादन कर दिया और मैं उत्साहित होकर अनुसंधान कार्य के लिए मानसिक रूप से तैयार हो गयी। डॉ0 समाधिया ने शोधकार्य के दौरान स्वाभाविक हताशा की मनोदशाओं में मेरा उत्साह बढ़ा कर इस शोध कार्य को लक्ष्य तक पहुँचाया। मेरी तमिस्रा–निमज्जित चेतना को ज्योति–पथ पर अग्रसर करने की गुरूकल्प प्रेरणा डॉ0 दिनेश चन्द्र द्विवेदी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गाँधी महाविद्यालय; उरई ने देकर वस्तुतः मुझे दिव्य आशीष से संवेष्टित कर दिया था, जिससे मैं अजेय महारथी सी सारस्वत लक्ष्य को सिद्ध कर सकी। इस अवसर पर मैं अपने पति श्री विनोद प्रकाश व्यास (एडवोकेट) को कैसे भूल सकती हूँ, जिन्होंने एक व्यस्त अधिवक्ता होते हुए भी पुस्तक संकलन से लेकर आवश्यक दौड़–धूप करके मुझे अनेक दुरूहताओं से बचाया। मैं अपने ऋषिकल्प श्वसुर श्री वीरदास व्यास तथा स्नेहशीला सास श्रीमती रामा देवी एवं सभी जेठ–जेठानियों के चरणों में विनम्र प्रणाम करती हूँ। उनके पुनीत आशीष के बिना मेरा यह सारस्वत यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न नहीं हो सकता था। मैं अपनी पुत्री कुमारी विनया व्यास तथा पुत्र विपुल व्यास का सहयोग ही मानती हूँ कि इन्होंने शोधकार्य के दौरान मेरी व्यस्तता के कारण मेरी ममता और वात्सल्य से वंचित रहने की पीड़ा धैर्यपूर्वक

सही। मैं अपनी छोटी बहनों नीतू, रूमा, नीलू एवं भाई राजू तथा रामेन्द्र को उनके सहयोग के लिए बहुत—बहुत स्नेह प्रदान करती हूँ।

मैं अपने पिता श्री हरिमोहन द्विवेदी तथा माँ श्रीमती सुशीला देवी का सश्रद्ध स्मरण करती हूँ। उनके कृपालु व्यक्तित्व की प्रभाव तरंगों ने मेरे व्यक्तित्व को सृजनधर्मी संस्कार प्रदान किये थे।

अन्त में मैं विख्यात, अल्पख्यात तथा अख्यात उन लेखक—लेखिकाओं के प्रति कृतज्ञता निवेदित करती हूँ जिनके ग्रन्थों के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष उपयोग से यह शोध प्रबन्ध पूरा हो सका।

अनुसंधित्सु

श्रीमती अर्चना व्यास

अनुक्रमणिका

शीर्षक :- महिला उपन्यासकारों के प्रतिनिधि उपन्यासों का कथ्य एवं विमर्श

अध्याय	पेज संख्या
प्रथम अध्याय :	
परिप्रेक्ष्य	1–5
(क) नारी उपन्यासकारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	6–14
(ख) बदलती परिस्थितियों के संदर्भ में नारी की परिवर्तित मनोदशा	15–25
(ग) नारी उपन्यासकारों की प्रेरणाभूमि	26–29
द्वितीय अध्याय :	
(अ) नव सृजित जीवन मूल्य : एक संश्लेषणात्मक अध्ययन	30–42
(ब) बदलते परिवेश के परिप्रेक्ष्य में नारी युग–बोध : समकालीन नारी उपन्यासकारों की कृतियों में	43–59
तृतीय अध्याय :	
(क) समकालीन नारी उपन्यासकारःएक संदर्भ दृष्टि	60–72
1. मृदुला गर्ग	
2. उषा प्रियम्बदा	
3. सुधा गोयल	
4. मन्नू भण्डारी	
5. कृष्णा सोवती	
6. ममता कालिया	
7. श्रीमती गौरापन्त 'शिवानी' आदि	
(ख) नारी उपन्यासकारों का कथ्यात्मक समालोचन	73–140

अध्याय	पेज संख्या
1. (क) उसके हिस्से की धूप — मृदुला गर्ग	
(ख) चित्तकोबरा — मृदुला गर्ग	
2. (क) पचपन खम्भे लाल दीवारें — उषा प्रियम्बदा	
(ख) रूकोगी नही राधिका — उषा प्रियम्बदा	
3. (क) भूमिजा — सुधा गोयल	
(ख) पटाक्षेप — सुधा गोयल	
(ग) अलाव — सुधा गोयल	
4. (क) महाभोज — मन्नू भण्डारी	
(ख) आपका बंटी — मन्नू भण्डारी	
5. (क) डार से बिछुड़ी — कृष्णा सोबती	
(ख) मित्रो मरजानी — कृष्णा सोबती	
6. (क) नरक—दर—नरक — ममता कालिया	
(ख) बेघर — ममता कालिया	
7. (क) कृष्णकली — श्रीमती गौरापन्त 'शिवानी'	
(ख) चौदह फेरे — श्रीमती गौरापन्त 'शिवानी'	
चतुर्थ अध्याय :	
नारी उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी के विविध रूप	141 – 156
1. गृहिणी	
2. समाज सेविका	
3. लेडी डॉक्टर	
4. नर्स	
5. मजदूरिन	

अध्याय	पेज संख्या
6. खेतिहर महिलायें	
7. वेश्या	
8. सोसाइटी गर्ल	
9. अभिनेत्री	
10. राजनेत्री	
पंचम अध्याय :	
1. समकालीन उपन्यासों में चित्रित नारी के रूपों की बहिरंग प्रासंगिकता	159—186
2. नारी और उसका परिवार	187—193
3. व्यक्तिगत मानसिकता के संदर्भ में नारी	194—202
4. आधुनिकता और परम्परा के द्वंद्व में जूझती नारी की मानसिकता	203—207
5. युगीन संत्रास, कुण्ठा, आक्रोश और टूटन के संदर्भ में नारी की मानसिकता	208—210
6. नैतिकता अनैतिकता के संदर्भ में चित्रित नारी की मानसिकता	211—214
षष्ठ अध्याय :	
उपसंहार एवं उपलब्धि	215—221
परिशिष्ट	222—229
(क) उपजीव्य ग्रंथ	
(ख) उपस्कारक ग्रंथ	
(ग) पत्र पत्रिकायें	

****

*

प्रथम अध्याय

शीर्षक: महिला उपन्यासकारों के प्रतिनिधि उपन्यासों का कथ्य एवं विमर्श :

परिप्रेक्ष्य :

विश्व वांड्.मय के कदाचित्त आदि उपोद्धात वेदों में नारी के विविध रूप परिलक्षित हैं, जिनमें से 'देवी' के रूप में उसका स्वरूप प्रस्तुत है। आर्य मनीषा में कथित पुरूष प्रधान सामाजिकता में नारी का अपेक्षाकृत अधिक उदान्त आदर्श तथा श्रद्धेय रूप चित्रांकित हुआ है :

''ऋग्वेदानुसार माता सर्वाधिक घनिष्ठ एवं प्रिय सम्बन्धी है। भक्त परमात्मा को पिता की अपेक्षा माँ कहकर अधिक संतुष्ट होता है।.......अथर्ववेद में आदेश है कि ''माता के अनुकूल व मन वाले बनो''।[1] वेदों के ज्ञानात्मक निष्कर्ष के रूप में उपनिषद हैं, जिनमें संसार को परब्रह्म की यज्ञशाला बताया गया है नर जिसका 'होता' है तथा नारी जिसकी 'अग्नि'। 'होता' द्वारा संचित और प्रक्षेपित हब्य को जैसे अग्नि तत्वों के पास पहुँचा देती है, वैसे ही नारी नर के समस्त संचित उपार्जित द्रव्य आदि का सम्मिलित विभाजन करती है। इस प्रकार सारी सृष्टि नर–नारी के परस्पर अवलम्ब से चलती है। दोनों में अंगाअंगी भाव है।....... स्त्री–पुरूष दोनों ही एक वृक्ष पर बैठने वाले दो पक्षी हैं और दोनों के मेल सहकारिता और सौहार्द से ही विश्व की स्थिति है।[2]

---

[1] डॉ0 सूतदेव हंस–उपन्यासकार चतुरसेन के नारी पात्र, पृष्ठ–3
[2] डॉ0 गजानन शर्मा–प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, पृष्ठ–52

वैदिककाल के उपरान्त रामायण, महाभारत, बौद्ध तथा मध्य काल से गुजरती भारतीय नारी की सामाजिक यात्रा अद्यतन काल तक पहुँचने तक अनेक उतार–चढ़ाव देख चुकी है। हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा पुरानी नही हैं। नारी के सम्बन्ध में पुरूष उपन्यासकारों द्वारा ही विविध रूपेण प्रस्तुतियाँ होती थीं। शनैः शनैः मध्य कालीन अंधविश्वास, अशिक्षा तथा रूढ़ियों से मुक्त होती गयी नारी ने हाथ में कलम थाम ली और अपनी तथा परिवेश की मीठी कड़वी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने लगी। नारी के द्वारा नारी के दृष्टिकोण से देखे गये विविध युगीन संदर्भ अभिव्यक्त होने लगे। नारी लेखिकाओं की सान्द्र स्वानुभूति तथा मानवीय जीवन के विभिन्न सरोकार एक दूसरे से घुलमिल कर हिन्दी उपन्यासों के पन्नों पर जिस रूप में अवतीर्ण हुए, वे रूप हिन्दी उपन्यास विधा के लिए नवीन तथा स्वागत-हेतु हैं। उषा प्रियम्वदा, निरूपमा सोबती, गौरापन्त शिवानी, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोवती, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, सुमति अय्यर, क्षमा शर्मा, पुष्पा मैत्रेयी, सुधा गोयल आदि के उपन्यासों में नारी के विविध रूप चित्रांकित हुए हैं। इन उपन्यासकार महिलाओं ने युगीन सामाजिक संदर्भो में नारी अस्मिता के प्रति संवेदनशील रहते हुए अपने अस्तित्व चेतस्–स्वरूप का प्रत्यारोपण करने की चेष्टा की है। सम्बन्धित युगीन सामाजिक सरोकारों से सामंजस्य बिठाती अथवा संघर्ष करती नारी के भोगे हुए यथार्थ और आदर्श समाज के प्रति स्वप्निल सृजनधर्मी दृष्टि इन उपन्यासकारों का प्रमुख कथ्य है, जिसे विमर्शित करने के

लिए इन उपन्यासकारों ने प्राणवन्त शब्दों से ओत–प्रोत भाषा को शिल्प और शैली के नये तेवरो के द्वारा प्रस्तुत किया है।

भारतीय वांड्.मय में नारी के वाह्य तथा आन्तरिक अस्मिता की प्रस्तुति बहुधा पुरूष साहित्यकारों के द्वारा सम्पन्न हुई है। वैदिक काल, रामायण काल, महाभारत काल, स्मृति काल, पौराणिक काल, बौद्ध संदर्भ रचना काल के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य, अपभ्रंश साहित्य, नाथसिद्ध साहित्य, मध्य कालीन संत-भक्त तथा रीति साहित्य एवं समकालीन साहित्य में नारी के वाह्य तथा आन्तरिक पक्ष का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। समकालीन साहित्यिक रचना धर्मिता को छोड़कर उपर्युक्त उल्लिखित विविध काल में नारी से सम्बन्धित कथ्य पुरूषों द्वारा प्रस्तुत हुए। स्पष्ट है कि नारी के स्वरूप के चित्रांकन नारी इतर हाथों से सम्पन्न हो रहा था, नारी से किसी हस्तक्षेप की न तो आशंका थी न आवश्यकता थी। नारी के विविध रूपों को यदि गैर नारी या नारी इतर मनीषियों द्वारा परिदृष्ट नारी के विविध रूपों पर यदि हम एक दृष्टि डालें तो नारी के विचित्र और बेमेल चित्र परिलक्षित होते हैं जैसे –"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"[1] तथा "नारी नरकस्य द्वारः"[2] तथा "अवगुन आठ सदा उर रहहीं, नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं।"[3] तथा "नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में, पीयूष

---

[1] मनुस्मृति – मनु, 141

[2] प्रश्नोत्तरी– आदि शंकराचार्य पृष्ठ–27

[3] रामचरित मानस (लंका काण्ड के 15 दोहे के नीचे की दूसरी चौपाई) गोस्वामी तुलसीदास

स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में"[1] तथा "अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"[2]

अद्यतन संघर्षशील भौतिकवादी युग में रह रही नारी के दृष्टिकोण को उसके पारिवारिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परीक्षित करने के लिए समाज और परिवार को लेकर विकसित हुई नव्य स्थापनाओं और मान्यताओं की चर्चा आवश्यक है। भारतीय समाज प्रारम्भ से ही पुरूष प्रधान रहा है। सुनियोजित सामाजिक विरचनायें न पूर्ण हो सकी थीं, अतः आदि युग के सम्बन्ध में भले ही पुरूष प्रधान समाज की बात सत्य सिद्ध न हो रही हो, किन्तु यह सच है कि न केवल भारत में, बल्कि विश्व के किसी भी समाज के मानव-इतिहास में मातृ सत्तात्मक समाज के प्रामाणिक दर्शन यदा–कदा ही हो पाये हैं। सम्प्रति पर्यन्त भारत समेत विश्व के अधिकांश देशों में पितृ सत्तात्मक परिवारों की परम्परा यथावत् विद्यमान है। शताब्दियों से जीवन के प्रायः समस्त परिप्रेक्ष्यों में नारी को दूसरे दर्जे की नागरिकता प्राप्त हो सकी। सामाजिक स्थितियों पर दृष्टि डाली जाये तो माता की अपेक्षा पिता, पत्नी की अपेक्षा पति, पुत्री की अपेक्षा पुत्र, बहन की अपेक्षा भाई का स्थान उच्चतर है। आज अस्तित्व चेतस आधुनिक नारी भी अभी किसी ऐसी जमीन पर खड़ी न हो सकी, जहाँ उसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो।

---

1 कामायनी–श्रद्धासर्ग–प्रसाद

2 यशोधरा–मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ–40

समय परिवर्तनशील है नारी की स्थितियाँ भी एक सी नहीं रहीं। उनमें परिवर्तन दृष्टिगोचर होता रहा है। स्वतन्त्रता पूर्व हिन्दी उपन्यासों में नारी को घर की चाहारदीवारी में सीमित रखकर समाज में उसकी स्थिति पुरूषमुखापेक्षी के रूप में चित्रित की गयी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। सम्प्रति अनेक सामाजिक रूढ़ियां, परम्परायें और मान्यतायें विखण्डित हो रही हैं। उनका स्थान नई मान्यतायें ले रही हैं। नारी उपन्यासकारों में समकालीन पारिवारिक तथा सामाजिक यथार्थ को नारी की विभिन्न मनोदशाओं, समस्याओं, आशाओं, निराशाओं, विवशताओं, तनावों, अनाचारों, विसंगतियों, न्यूनताओं तथा स्वतन्त्रता के नाम पर स्वच्छन्दता की ओर उड़ानों को भी अपना कथ्य बनाया है, जिसे पुरूष उपन्यासकारों की तुलना में अधिक मार्मिक स्वानुभूतिमय तथा तन्मय रूप में विमर्शित किया गया है।

(क) नारी उपन्यासकारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

''नारी की सदा से अपनी सत्ता महत्ता रही है। नारी केवल मांस पिण्ड की संज्ञा नही है। आदिम काल से आज तक विकास पथ पर पुरूष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सरल बनाकर, उसके अभिशापों को झेलकर और अपने वरदानों से जीवन में अक्षयशील भरकर मानवी ने जिस व्यक्ति चेतना और हृदय का विकास किया है उसी का पर्याय नारी है।''[1]

स्त्री और पुरूष भले ही एक दूसरे के पूरक हों, किन्तु दोनों की शारीरिकता तथा मानसिकता में अन्तर हैं। शारीरिक दृष्टि से जिस तरह नारी अंगों का झुकाव कोमलता की ओर है, वहीं पुरूष अंगो का झुकाव कठोरता की ओर है। इसी प्रकार मानसिक दृष्टि से जहाँ पुरूष में विजय की भूख होती है, वहीं नारी में समर्पण की। पुरूष जहाँ लूटना चाहता है स्त्री वही लुट जाना चाहती है। फिर भी वह स्नेह व सौजन्य की प्रतिमूर्ति होती है। वह वाणी से जीवन को अमृतमय कर देती है। उसका हृदय सन्तप्तों को शीतल छाया देता है। उसका हास्य निराशा की कालिमा को पोछकर आशा की किरणें बिखेरता है।"यदि नारी वर्तमान के साथ भविष्य को भी हाथ में लेले तो वह अपनी शक्ति से बिजली की तड़प को भी लज्जित कर सकती है। आदि काल से ही नारी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पुरूष के साथ चलती रही है। अधिकांश सभ्यतायें और संस्कृतियाँ अपने आदिम युग में मातृ सत्ता प्रधान रही है"।[2] जीवन के विविध क्षेत्रों में नारी का योगदान रहा है। वेदों में लोपा मुद्रा एवं गार्गी सी मन्त्रदृष्टा नारियों की भी चर्चा है। स्पष्ट है कि

---

[1] महादेवी वर्मा, दीपशिखा, भूमिका
[2] डॉ० शीतल प्रभा वर्मा –महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ, पृष्ठ–17

वैदिककाल में अध्ययन और चिन्तन के क्षेत्र में नारी की समानगति रही है। आज युग बदल चुका है, तन्त्र बदल चुका है, किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में नारियों की अनिवार्यता, उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व, उनकी राज़नीतिक, प्रशासनिक, लेखकीय, सामाजिक एवं गार्हस्थिक क्षमता दिनानुदिन विवर्धमान है। यदि हम लेखकीय मनीषा को लें तो लोपामुद्रा एवं गार्गी की परम्परा ने महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, शिवानी से लेकर आज तक की अनेक महिला लेखिकाओं का रूप धारण कर लिया है।

उपन्यास के क्षेत्र में महिला लेखनी के दर्शन अपेक्षाकृत देर से होते हैं। वस्तुतः हिन्दी उपन्यास जगत में उषा देवी मित्रा का आविर्भाव एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उन्हें हिन्दी में नारी उपन्यासकारों की प्रथम पीढ़ी की आधारशिला कहा जा सकता है।[1]

उषा देवी ने प्रेम के उदान्त स्वरूप को अपना कथ्य बनाया है। सम्मोहित, नष्ट नीड़; जीवन की मुस्कान, बचपन का मोल, प्रिया, सोहनी आदि अनेक कृतियाँ उषा देवी मित्रा की एक के बाद एक प्रकीर्ण होती प्रकाश किरणें हैं। इसके बाद सुभद्रा कुमारी चौहान ने कथा साहित्य में अपना योगदान दिया किन्तु मूलतः वे कवयित्री थीं। उनका कथा–लेखन केवल कहानियों तक ही सीमित रहा। वस्तुतः आज हिन्दी उपन्यास की आदि महिला उपन्यासकार उषा देवी को ही कहा जा सकता है। 'बचपन का मोल' 1936 में प्रकाशित उषा देवी मित्रा का प्रथम

---

[1] सारिका अंक 250 नवम्बर 1979 सम्पादक कन्हैयालाल नन्दन, पृ0 66– महिला लेखिकाओं के नारी पात्र (ओम प्रकाश निर्मल के लेख से उद्धत)

उपन्यास है। इसके उपरान्त उषा देवी मित्रा ने 1937 में 'प्रिया' तथा 'जीवन की मुस्कान,' 1955 में 'नष्ट नींड़' तथा 1949 में 'सोहनी' उपन्यास हिन्दी जगत को प्रदान किये। तदुपरान्त 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास से कृष्णा सोवती ने अपनी औपन्यासिक यात्रा प्रारम्भ की। यह उपन्यास 1958 में प्रकाशित हुआ था, इसके बाद उन्होंने 1969 में 'मित्रों मरजानी', 1972 में 'सूरजमुखी अंधेरे के' तथा 1976 में 'यारो के यार' और 'तिन पहाड़' उपन्यास हिन्दी जगत को दिये। श्रीमती गौरा पन्त 'शिवानी' हिन्दी उपन्यास संसार की ज्योतिर्मय हस्ताक्षर हैं। उन्होंने 1961 में 'मायापुरी,' 1969 में 'कृष्णकली,' 1970 में 'विषकन्या,' 1972 में 'श्मशान चम्पा' और 'चौदह फेरे,' 1974 में 'गेंडा,' 1978 में 'सुरंगमा' और 'भैरवी,' 1979 में 'माणिक,' 1981 में 'कृष्ण वेणी' जैसे प्रख्यात् उपन्यासों का सृजन किया। उनकी लेखनी अभी गतिशील है और हिन्दी उपन्यास जगत को उनसे अभी भी बहुत आशा है।

उषा प्रियंबदा ने आज के नारी जीवन की विसंगतियों को सोचा समझा और औपन्यासिक कृतियों में उन्हें आत्मसात किया है। उन्होंने 1967 में 'रूकोगी नही राधिका', 1979 में 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' जैसे चर्चित उपन्यासों का प्रणयन किया है।

श्रीमती शशि प्रभा शास्त्री के पांच उपन्यास उनकी रचना धर्मिता की पांच निरश्रेणियाँ है। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से स्वयं की पहचान का प्रयास किया है। 'वीरान रास्ते और झरना,' 'अमलतास,' 'नावें,' 'सीढ़ियाँ' तथा 'कर्क रेखा' उनके ऐसे चर्चित उपन्यास हैं, जिनमें कहीं दाम्पत्य जीवन के दोहरे चेहरे हैं; कहीं

पीढ़ियों के बीच टकराव की समस्यायें हैं, तो कहीं प्रेम की मौलिक मौजूदगी तो कहीं प्रेम का त्रिकोणात्मक अस्तित्व है।' वीरान रास्ते' और 'झरना' 1968, 'नावें' 1974, 'सीढ़िया' 1976, 'कर्क रेखा' 1983 में प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त शशि प्रभा शास्त्री ने 1979 में 'परछाइयों के पीछे' 1980 'क्योंकि' जैसे नारी मनोदशा का हृदय ग्राही तथा भाव संकुल चित्रण करने वाले उपन्यास लिखे।

श्रीमती मेहरून्निशा परवेज जीवन की समग्रता का प्रस्तुतीकरण लेकर हिन्दी उपन्यास मंच पर अवतरित होती हैं। इनका 1969 में 'आँखों की दहलीज' 1972 में 'उसका घर', 1977 में 'कोरजा' तथा 1981 में 'अकेला पलास' प्रकाशित हुआ।

स्थायित्व तथा स्तरीय तारतम्य को लेखन में सम्वेष्टित करते हुए मन्नू भण्डारी ने हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रवेश किया। उनके सृजन संसार से स्पष्ट है कि उन्होंने उसका स्वयं साक्षात्कार किया है और लेखिका के रूप में अपना आविष्कार भी किया है। मन्नू भण्डारी के 1971 में 'आपका बंटी', 1978 में 'एक इंच मुस्कान', 1979 में 'महाभोज', 1980 में 'स्वामी' उपन्यास प्रकाशित हुए।

निर्मला वाजपेयी ने 1971 में मात्र एक उपन्यास 'सूखा शैलाब' लिखकर हिन्दी कथा जगत में अपनी मौजूदगी दर्ज की। इस काल खण्ड में हिन्दी साहित्य जगत को ममता कालिया जैसे प्रतिभा प्राप्त हुई। वे नारी की मानसिकता से घुटते हुए कुछ प्रश्नों को उठाती हुई तथा तथ्यों का पोस्टमार्टम-सा करती हुयी उनकी यथार्थता को बीन–बीन कर रखती जाती हैं। उनके 1971 में 'बेघर' तथा

1975 में 'नरक–दर–नरक' दोनों उपन्यास पति–पत्नी के प्रेमहीन सम्बन्धों पर आधारित हैं।

सन् 1960 के आस–पास साहित्य जगत में श्रीमती कृष्णा अग्निहोत्री ने प्रवेश किया। इनका 1974 में 'बात एक औरत की,' 1976 'टपरे वाले,' 1978 'कुमारिकायें' तथा 1980 में 'टेसू की टहिनियाँ' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

क्रान्ति त्रिवेदी अपने कथ्य के माध्यम से कहीं पति–पत्नी और प्रेमी के त्रिकोण माध्यम से प्रेम की नाजुक स्थिति प्रकट करती हैं, तो कहीं दिल की गहराइयों में उतर कर मनोव्यथाओं का सहज स्वाभाविक चित्रण करती हैं। 1973 में इनका 'तृषिता' तथा 1975 में 'अंतिमा' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

कान्ता भारती ने 1976 में मात्र एक उपन्यास– रेत की मछली, लिखकर नारी उपन्यासकारों में अपनी गणना करवा ली।

श्रीमती कुसुम अंशल की रचनायें प्रमाणित करती हैं कि उन्होंने तत्कालीन प्रश्नों से सर्वकालीन प्रश्नों की ओर अपनी यात्रा आरम्भ की है। इनका 1976 में 'उसकी पंचवटी' और 1981 में 'अपनी अपनी यात्रा', उपन्यास प्रकाशित हुआ।

मंजुला भगत युवा पीढ़ी की उन समर्थ लेखिकाओं में से हैं, जिन्होंने अपने परिवेश की विद्रूपताओं, क्रूरताओं को गहरी सशक्तता से देखा। इनका 1976

में 'अनाड़ी', 1978 में 'बेगाने घर' में, 1979 में 'टूटा हुआ इन्द्र धनुष' और 'लेडीज क्लब' तथा 1983 में 'खातुल' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

इस काल खण्ड में सशक्त कथा शिल्पी निरूपमा सेवती का प्रादुर्भाव हुआ। इनके पात्र महानगरीय जीवन की दौड़ में अपने अस्तित्व की तलाश करते है तथा शोषण जनित विवशताओं से उबरने की मानसिकता से जुड़े हैं। इनका 1976 में 'पतझड़ की आवाजें', 1977 में 'मेरा नरक अपना है', 1978 में 'बंटता हुआ आदमी', 1983 में 'दहकन के पार' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

आन्तरिक उत्पीड़न और विवशता के भंवर में फंसी नारी के जीवन को लेकर चलने वाली दीप्ति खण्डेलवाल के उपन्यास सहज भाषा में मार्मिकता और संवेदनशीलता से भरे हुए हैं। इनका 1976 में 'प्रिया' और 'वह तीसरा', 1977 में 'कोहरे', 1978 में 'प्रति ध्वनियाँ', उपन्यास प्रकाशित हुए।

श्रीमती सूर्यबाला के यद्यपि दो उपन्यास ही प्रकाश में आये हैं, किन्तु प्रभाव की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है। उनका कथ्य गार्हस्थ्य और दाम्पत्य जीवन की सीमा रेखाओं के बीच घूमता है। इनका 1977 में 'मेरे सन्धि पत्र' तथा 1980 में 'सुबह के इन्तजार तक' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

सुश्री सुनीता जैन भावसंकुल धरातल पर अपने उपन्यास के कथानक का प्रकाश करती है। इनके 1977 में 'अनुगूंज', 'मरणातीत' तथा 'वीणा' उपन्यास प्रकाशित हुए।

हिन्दी उपन्यास के माध्यम से पारम्परिक सोच से उबरने, दैहिक व मांसल परिप्रेक्ष्य उजागर करने में अतिशय 'बोल्डनेस' प्रदर्शित करने के लिए सन्नद्ध मृदुला गर्ग हिन्दी साहित्य में एक बहुचर्चित अस्तित्व हैं। न यह सहानुभूति चाहती हैं न बांटती हैं। स्वाभिमान उनमें कूट–कूट कर भरा है। वे सत्य के एक अंश को लेकर उसे "ग्लोरीफाई" नहीं करतीं, प्रत्युत उसको सम्पूर्णता में लेती हैं। जीवन में दुराव–छिपाव वे जानती नहीं और अपने लेखन को भी उन्होनें उसी के अनुरूप ढ़ाला है। उनकी जैविक तृष्णाओं की सहज स्पष्ट अभिव्यक्ति भी अपने प्रति बोला गया सच है। एक सूक्ष्म पारदर्शी वेदना धारा उनके लेखन और व्यक्तित्व में बहती दिखाई देती है वह कभी हंसी के लिए झलकतीं हैं, कभी शुद्ध त्रासदी बनकर उभरती हैं। उनका 1977 में 'उसके हिस्से की धूप', 1978 में 'वंशज', 1979 में 'चित्त कोबरा', 1980 में 'अनित्य' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

मालती जोशी ने हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं को गति दी है। किन्तु सर्वाधिक सफलता उन्हें उपन्यासों में मिली है। इनके अधिकांश उपन्यास उपन्यासिका की श्रेणी में आते हैं; जिनमें दाम्पत्य, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को ही उभारा गया हैं। इनका 1978 में 'पाषाण युग', 'निष्कासन' तथा 'ज्वालामुखी के गर्भ में', 1979 में 'सहचारिणी' उपन्यास प्रकाशित हुए।

नारी पात्रों को अपने कथानक का केन्द्र बनाकर श्रीमती सुधा वर्मा ने नारी जीवन का सपरिवेश चित्रांकन किया है। इनका 1978 में 'एक औरत की जिन्दगी', 1981 में 'फ्री लांसर' तथा 1982 में 'बीते हुए' उपन्यास प्रकाशित हुए।

धार्मिक वर्ग के जीवन को यथार्थ रूप में अपने उपन्यास में उतारने वाली पीढ़ियों के संघर्ष को सुख देने वाली तथा भोगे हुए यथार्थ को चित्रित करने वाली श्रीमती दिनेश नन्दिनी डालमियाँ ने दो उपन्यास लिखकर हिन्दी के नारी उपन्यासकारों में अपना नाम लिखा लिया। इनका 1978 में 'आहों की वैशाखियाँ' तथा 1980 में 'कंदील का धुआँ' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

सामाजिक विसंगतियों को मानव स्वर देने का संकल्प लेकर प्रतिभा सक्सेना ने हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रवेश किया। उनका एक मात्र उपन्यास 'शर्त' 1979 में प्रकाशित हुआ।

अभिजात वर्ग के दरिद्र अवस्था में पहुँचने की स्थिति का विश्लेषण करने वाला बिन्दु सिन्हा का उपन्यास 'तुम सुन्दर हो' 1979 में प्रकाशित हुआ।

शिवानी से विरासत में प्राप्त प्रतिभा से सम्पन्न श्रीमती मृणाल पाण्डेय नारी जीवन की विसंगतियों की सबल अभिव्यक्ति करती हैं, साथ ही ग्रामीण परिवेश का हृदय ग्राही चित्रण उनकी अतिरिक्त विशेषता है। उनका 1979 में 'विरूद्ध' उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसमें नारी मन की कोमल भावनाओं का इजहार दिया गया है।

आज की घिनौनी सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के यथार्थ को जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने वाली प्रतिमा वर्मा के उपन्यास जहाँ एक ओर वाह्य विद्रूपता का चित्रण करते हैं, वहीं दूसरी ओर सम्बन्धों की उलझी बनावट से

उत्पन्न कटुता की सफल अभिव्यक्ति भी करते हैं। इनका 1980 में 'उनसार के पर' तथा 1982 में 'सुबह होती है शाम होती है' उपन्यास प्रकाशित हुआ।

सुधा गोयल ने नारी अस्मिता के प्रति अत्यधिक संवेदनशील रहते हुए उसकी जिन्दगी से जुड़ी विसंगतियों, कुण्ठाओं तथा अनाचारों का मार्मिक चित्रांकन किया है। उन्होंने बहुधा समाज में चतुर्दिक व्याप्त पाखण्ड कलित आदर्श के छल को ठुकरा कर यथार्थ का उद्घाटन किया है। 'मृण्मयी', 'भूमिजा', 'पटाक्षेप' और 'अलाव' उनके चर्चित उपन्यास हैं। इन नारी उपन्यासकारों के अतिरिक्त बाला दुबे, मणिका मोहिनी, डॉ0 मिथलेश कुमारी तथा उषा चौधरी जैसी अनेक नारी उपन्यासकार हिन्दी उपन्यास कोष को समृद्ध करती जा रही हैं।

(ख) बदलती परिस्थितियों के संदर्भ में नारी की परिवर्तित मनोदशा

परिवर्तन शाश्वत् है। परिवर्तन पयस्विनी की लोल लहरों ने अतीत को वर्तमान में बदल दिया और वर्तमान को अतीत में बदल देंगी। काल प्रवाह नित नूतनता के अभिनन्दन की परिस्थितियाँ सृजित करता है। यह परिवर्तन सार्वभौमिक है। भारत की विविध परिस्थितियाँ परिवर्तित हुई अतः सामाजिक और पारिवारिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन आया प्राचीन रीति–रिवाजों, विश्वासों तथा परम्पराओं को हटाकर समाज में उत्तरोत्तर वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण स्थापनायें स्वीकृत हो रही है। प्रतिगामी और पुनरूत्थानवादी तथा प्रगतिशील सोच के बीच संघर्ष भी समकालीन यथार्थ है। यह संघर्ष विषमताओं से ओत–प्रोत होकर विभिन्न भागों में प्रवाहमान सामाजिक धाराओं के रूप में स्पर्श दिखाई देता है। समकालीन नारी पर इन बदलती और संक्रमित परिस्थितियों का प्रभाव अवश्यम्भावी था। आधुनिक नारी उपन्यासकारों में नवीनता और प्राचीनता के इस संधिकाल को चित्रित करने की चेष्टा की है। विशेषरूप से सामाजिक और पारिवारिक रूप से नारी मनोदशा को साकल्य रूप से अंकित करने का प्रयास समकालीन नारी उपन्यासों में परिलक्षित होता है। विगत चार दशकों का समय नारी की पारिवारिक सामाजिक मान्यताओं में होने वाले परिवर्तनों का समय रहा है। वैसे तो ये परिवर्तन स्वतन्त्रता संघर्ष के समय से ही परिलक्षित होने लगा था, किन्तु पाचवें दशक के उपरान्त देश की सामाजिक गतिविधियों में बड़ी तेजी से परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन में नारी प्रगति के स्वर भी काफी जोर पकड़े हुए हैं।

सन् 1960 से 1975 तक की अवधि नारी मुक्ति आन्दोलन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कही जानी चाहिए। 1975 को तो महिला वर्ष के रूप में विश्व के अनेक देशों में मनाये जाने की स्थिति नारी की बढ़ती जागरूकता एवं चैतन्य भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति रही है। साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में भी नारी स्वातन्त्र्य तथा नारी को पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ में पुरूष के समान महत्वपूर्ण घटक माने जाने की अनेक रूपों में अनुशंसा मिलती हैं। यद्यपि स्वयं नारी अपनी परम्परागत ग्रंथि (पारिवारिक मोह को लेकर) से अभी पूरी तरह मुक्ति नहीं हो सकी है। पति, पुत्र, पिता, भाई, मित्र के रूप में वह आज भी पुरूष के लिए सहज ही बड़े से बड़ा त्याग, बलिदान करने को तत्पर हो जाती है। पुरूष लेखकों की संख्या अधिक होने के कारण नारी की इस 'दुर्बलता' को ही सर्वाधिक प्रक्षय दिया गया है, क्योंकि यह ही इनके हित में होता है।[1] नारी उपन्यासकारों ने ही इस दिशा में साहसिक प्रयास किये हैं। अनुभूति की प्रखर अभिव्यक्ति में वे काफी सफल भी हुई है। परिवार और समाज से संदर्भित नारी की मानसिकता इन लेखक, लेखिकाओं के उपन्यासों के अनेक स्तरों पर रूपायित हुई है जैसे—नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी की समस्या, पारिवारिक महत्व का आधार आर्थिक दाम्पत्य जीवन में असंतोष होने पर परिवार के प्रति विरक्ति तथा सम्मिलित परिवार की अपेक्षा व्यक्तिगत परिवार में सुख की कल्पना। बदलती सामाजिक परम्पराओं एवं मान्यताओं की श्रृंखला में संयुक्त परिवार का विघटन भी एक कड़ी रही है। संयुक्त परिवारों के स्थान पर अब व्यक्तिगत परिवारों के प्रचलन का कारण आधुनिक युग

[1] डॉ0 विमला शर्मा साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में विविध रूप, पृ0 42, संगम प्रकाशन, इलाहाबाद

की विषम सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ रही हैं। शिक्षा, राजनीति स्वतन्त्र अर्जन तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में जबसे नारी व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता को लेकर प्रश्न उठने लगे हैं, तभी से पारिवारिक संगठनों के प्रति नारी के दृष्टिकोण में परिवर्तन दिखाई देने लगा है। अब वह संयुक्त परिवार में रहना अपने समुन्नत विकास में बाधा ग्रस्त मानती है। इसका कारण नई और पुरानी पीढ़ी का टकराव कहा जा सकता है। अनुसन्ध्य उपन्यासों में यदा-कदा पारिवारिक समस्याओं में उलझी नारी और उन समस्याओं के परिणाम स्वरूप निर्मित नारी मानसिकता का प्रभावशाली चित्रण मिलता है।

भौतिक सुख संसाधनों को लेकर व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के सभी स्तरों पर आपा-धापी मची हुई है। नारी ने जब से घर से बाहर जाकर स्वावलम्बी बनना प्रारम्भ किया तो उसे दोहरी समस्या का सामना करना पड़ा। परिवार में रहकर परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व का सम्पूर्ण निर्वाह न कर पाने की स्थिति में उसे परिवार के गुरूजनों की आलोचना सहनी पड़ती है। दूसरी ओर घर में कमाने वाली स्त्री की स्थिति न कमाने वाली स्त्री की अपेक्षा कुछ अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है, इससे कमाने वाली स्त्री के प्रति न कमाने वाली स्त्रियों की ईर्ष्या जाग्रत हो उठती है। परिवार में अपनी स्वतन्त्र महत्ता दर्शाने के लिए आर्थिक स्वावलम्बन नारी की अनेक आलोचनाओं के बावजूद उसकी महत्ता का आधार बनता जा रहा है।

आधुनिक युग में दाम्पत्य जीवन की विषमताओं को लेकर परिवार के प्रति नारी की मानसिकता में अन्तर आया है। पति–उपेक्षा, अधिकार भावना, अविश्वास, कलह, नये और पुराने विचारों का संघर्ष, पति व्रत का एकांगी आदर्श आदि इस दिशा में महत्वपूर्ण कारण कहे जा सकते है, जो परिवार के प्रति नारी असहिष्णुता की भावना भरते हैं।

संयुक्त परिवारों का स्थान व्यक्ति परिवार लेते जा रहे हैं। इसका कारण आज व्यक्ति का परिवर्तित व्यक्तित्व और सामाजिक परिवेश है। नारी इस मानसिकता से अछूती नहीं रह सकती, क्योंकि वह स्वयं समाज की संरचना में आक्ष पुरूष के समकक्ष होने का दावा कर रही है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नारी की मानसिकता को प्रमुखतः अधोप्रस्तुत बिन्दुओं के आधार पर आंका जा सकता है :–

1. लड़की और लड़के के जन्म को लेकर।
2. विवाह के सम्बन्ध को लेकर।
3. विधवा विवाह को लेकर।
4. वेश्या, कालगर्ल की स्थिति को लेकर।
5. यौन शुचिता के सम्बन्ध में।
6. आर्थिक स्वतन्त्रता के विषय में।
7. घर और बाहरी क्षेत्र के सीमा निर्धारण की स्थिति को लेकर।

भारतीय समाज को विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के बावजूद लड़का और लड़की के जन्म को लेकर नारी स्वयं पुत्र के जन्म को लेकर मातृत्व की सार्थकता का अनुभव करती है। लड़की के जन्म पर माँ ही नहीं समस्त नारी वर्ग उदासी के प्रभाव में प्रविष्ट हो जाता है।

विवाह के प्रसंग में नारी अपने आप को जाति वर्ग एवं आयु के बन्धनों में बँधने को तैयार नहीं मानती है।[1]

यद्यपि समाज में अनेक उदाहरण इसकी विपरीत स्थिति को लेकर मिलते हैं। समकालीन बदलती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में नारी मनोदशा के दोनों रूप दृष्टिगोचर होते है। सामान्य रूप में तो अत्याधुनिक कही जाने वाली नारी विवाह संस्कार का ही बहिष्कार करती है। उसकी दृष्टि में "शादी एक महज कर्मकाण्ड" है झूठ, छल, प्रंपच, धोखा, दाम्पत्य जीवन बाहर से जितना ही अच्छा सुन्दर और आदर्श दिखायी देता है, भीतर से वह उतना ही कुरूप, बदशक्ल, पापमय और अन्यायपूर्ण होता है।[2]

अन्तर्जातीय विवाह तो हो ही रहे हैं। आधुनिक नारी की बदली मनोदशा ने विधवा विवाह को भी मान्यता देने का मन बना लिया हैं। विधवा होना उसकी दृष्टि में अभिशाप न होकर एक दुर्घटना के रूप में लिया जाना चाहिए,

---

[1] डॉ0 मार्कण्डेय सिन्हा– नारी की बदलती मनोदशा, पृ0 104

[2] लक्ष्मी नारायण लाल– प्रेम अपवित्र नहीं, पृ0 44

जिसका निदान विधवा के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में हो। नारी के प्रति विधवा को पुनर्विवाह से वंचित रखने की रूढ़ि का बहिष्कार आज की नारी के दृष्टिकोण से आवश्यक हो गया है।

वेश्या या कालगर्ल के लिए अब नारी का दृष्टिकोण धीरे–धीरे परम्परागत सोच से हटने लगा है। नारी के बदले हुए इस दृष्टिकोण के उदाहरण नारी उपन्यासकारों की कृतियों में परिदृष्ट हुए है। अब कला और संगीत की अधिष्ठात्री के रूप अथवा समाज के कलंक के रूप में नारी का यह रूप कम ही देखने को मिलता है। नारी उपन्यासकारों की सहानुभूति ही इस वर्ग की नारियों को मिली है। उसका कारण यह है कि कोई भी स्त्री स्वेच्छा से वेश्या नहीं बनना चाहती। सामाजिक परिस्थितियाँ उसे इस राह पर ले जाती हैं। आज स्थिति यह है कि आर्थिक समस्यायें विकराल रूप धारण करती जा रही हैं। अतः उनकी सम्पूर्ति में पुरूष और नारी दोनों ही संलग्न हैं। नारी की आर्थिक आवश्यकता अनिवार्यता बन जाती है तो वह बिवशता की स्थिति में शरीर व्यापार द्वारा ही अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

यौन शुचिता को लेकर नारी और पुरूष के बीच द्वंद्व छिड़ा हुआ है पुरूष नारी के पातिव्रत्य का आधार पति के प्रति एकनिष्ठ समर्पण के आधार पर तौलते है, जबकि प्रगतिशील नारी इस पुरूष मानसिकता को इसे पुरूष की सामन्तशाही मानती है।

नव चेतना की स्फूर्ति में नारी ने यह अनुभव किया कि आर्थिक आधार पर पुरूष उसे पांव की जूती, दासी, अनुचरी कहता है। पुरूष कमाता है और वह बैठकर खाती है। इसी आधार पर उसे पुरूष की अनेक रूपों में गुलामी करनी पड़ती है। अतः वह अपनी अर्जित शिक्षा व स्वतन्त्रता के बल पर आर्थिक क्षेत्र में भी स्वयं को स्वतन्त्र इकाई घोषित करने में पीछे रहने को तैयार नहीं। एक ओर तो पुरूष की दासता से मुक्ति की भावना ने नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख किया। दूसरे सामाजिक विषमताओं के विरोध में उसने इस क्षेत्र में स्वयं की सक्षम बनाने की दिशा में कदम बढ़ाया।

घर और बाहर को लेकर नारी मनोदशा को जिस रूप में नारी उपन्यासों में चित्रांकित किया गया है। उससे यह प्रतीत होता है कि परिवर्तित परिस्थितियों के संदर्भ में नारी 'बाहर' के क्षेत्र में ही अपने सर्वांगीण विकास के आसार सोचती है। नारी की ये मानसिकता एकदम नई नहीं कही जा सकती क्योंकि प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही उसके लिए राजनीति और सामाजिक सेवा के क्षेत्र खुल चुके थे जहां उसके बुद्धि कौशल का परिचय मिलता है।

परिवार और समाज ने सामूहिक परिप्रेक्ष्य को लेकर नारी की परिवर्तित वैयक्तिक मनोदशा का सुविन्यस्त चित्राकंन नारी के वैयक्तिक पहलुओं के विविधता के रूप में महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों मं सुगुम्फित हैं। नारी के वैयक्तिक पक्ष के समक्ष अन्य पक्ष हल्के से प्रतीत होते हैं। उसका आन्तरिक स्वरूप इतना जाजुल्वमान है कि उसका बहिरंग पक्ष धुधंला सा लगता है। देश

स्वतन्त्र हुआ, देश का बॅटवारा हुआ इसका परिणाम कई समस्या की परिसमाप्ति तथा कई नई समस्याओं के जन्म के रूप में हुआ। युगीन संदर्भ समाज की अपेक्षा व्यक्ति से अधिक जुड़े हुए होते है। चाहे नारी हो या पुरूष अपनी वैयक्तिक्ता का तिरोहण सहने की स्थिति में आज उसे नहीं पाते। नारी उपन्यासकारों की कृतियों में चित्रित नारी मनोविज्ञान का विश्लेषण करते हुए युद्ध सापेक्षता को दृष्टिपथ पर रखते हुए नारी की मानसिकता का आंकलन करना समीचीन होगा। प्रतिपूर्णता जागरूक है तथा नारी अधिकारों एवं सामाजिक सुधारों के प्रति सतत् प्रयत्नशील है। नारी स्वातन्त्र्य की चर्चा करते समय बदलती परिस्थितियों के संदर्भ में नारी की दोहरी मानसिकता का परिचय मिलता है। घर से बाहर, स्कूल, कालेज, दफ्तर, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में उसे अपनी स्वतन्त्र स्थिति की पग–पग पर प्रेरणा मिलती है। जबकि घर के भीतर आज भी वह बहुत बदली हुयी स्थिति से नहीं गुजरती। पुरूष का संरक्षण, पुरूष का आधिपत्य तथा पारिवारिक मर्यादायें उसे उन वाह्य स्वतन्त्र अस्तित्व बोधक घटकों से सहज ही अलग ले जाती हैं। तब वह अपने को और भी परतन्त्र तथा और असहाय अनुभव करती है।

दाम्पत्य सम्बन्धों को लेकर बदलती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में नारी को लगने लगा है कि आज से आठ दशक पूर्व उस पर लगी पाबन्दियाँ वही हैं। आज दाम्पत्य कलह अपना कुसामंजस्य की स्थिति में कानून और समाज उसे छूट देता है कि वह कटु जीवन से मुक्ति पाये और नये जीवन का वरण कर सके। इस छूट या सुविधा को मांगने की स्वरूप मानसिकता आज भी नारी नहीं सजों

पायी हैं पुरूष जिस सरलता से अतीत को धो–पोछकर नये जीवन में प्रवेश कर जाता है। नारी वह सब नहीं कर पाती वह विगत को आसानी से नही झुठला पाती तब विगत और आगत का दोहरा उसे निराशा कुण्ठा और आत्मपीड़ा ही देता है।

राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भी भारतीय जनमानस आधुनिक और परम्पराओं की दुविधाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है, स्त्री और पुरूष सैद्धान्तिक रूप में आधुनिकता के सम्पोषक दिखाई देते हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप में वे परम्पराओं से ज्यों के त्यों जुड़े पाये जाते हैं। भारतीय नारी में नारी जागरण सम्बन्धी अनेक आन्दोलन को पार किया, फिर भी यह जागरण जितना वाह्य धरातल पर परिलक्षित होता है, आन्तरिक धरातल उतना ही खोखला दिखाई देता है, भले ही कानून और समाज की तरफ से नारी को अनेक कानूनी और सामाजिक सुविधायें तथा सुरक्षायें दी गयी हो। नारी स्वयं उन सुरक्षाओं तथा सुविधाओं का कितनी बेबाकी से विवेक जन्य उपयोग कर पाती है, यह प्रश्न विचारणीय बन जाता है। पारम्परिक रूप में स्त्री के लिए–"जब तक उसकी मुख्य भूमिका पत्नी और माँ बनना थी, तब तक तो कोई दिक्कत नहीं थी, परन्तु आज उसे इसके अलावा घर से बाहर नौकरी भी करनी पड़ती है। इसकी वजह से उसकी भूमिका को लेकर अनेक उलझने पैदा हो गयी है। इस संक्रान्ति काल में ये उलझने इसलिए हैं क्योंकि उसकी पुरानी और नई भूमिका में तालमेल नहीं है, अन्तर में भी संघर्ष है। चूँकि उसके परिवार के दूसरे सदस्यों के उत्तरदायित्व को

दुबारा निश्चित नहीं किया गया है, इसलिए तनाव और गलतफहमियां उत्पन्न होने की बहुत अधिक गुंजाइस रहती है''।[1]

युग परिवर्तन ने नारी चेतना को विभिन्न स्तरों पर आन्दोलित किया है। परिणाम स्वरूप उसकी निजी मान्यताओं एवं स्थापनाओं का प्रणयन होना स्वाभाविक था। अपने प्रति चले आ रहे सामाजिक मानदण्डों की पुनर्व्याख्या करवाने की उसकी दलील जोर पकड़ती जा रही हैं। बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नारी की आचरण सम्बन्धी नैतिकता और अनैतिकता की परिभाषा एवं मुहावरों की अभिनव अर्थवत्ता की आवश्यकता नारी ने अनुभव की तथा समय–समय पर स्वतन्त्र विचार सम्प्रेषण द्वारा वह निःसंकोच आगे बढ़ी। यौन सम्बन्धों को लेकर पवित्रता स्थायित्व एवं इनके प्रयोजन से सम्बन्धित विश्वास बदले और उनमें नये आयाम जुड़े। आज की शिक्षित नारी हो या ग्रामीण युवती ये परिवर्तित आस्था दोनों वर्गो की नारियों में परिलक्षित होती है। नैतिकता के लिए जो दोहरा मापदण्ड था, उसके सम्बन्ध में शिक्षित स्त्रियों का दृष्टिकोण काफी बदल गया और अधिक से अधिक स्त्रियां इस दोहरे मापदण्ड को आपत्तिजनक मानने लगी। शादी से पहले सेक्स सम्बन्ध के कारण पुरूष को भी उतना ही हेय मानना चाहिए, जितना स्त्रियों को माना जाता है। ऐसी मांग करने वाली स्त्रियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है, शिक्षित नव युवतियाँ तो यहां तक कहने लगी हैं कि यदि पुरूष शादी से पूर्व या विवाहोत्तर सेक्स सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। तो स्त्रियां भी ऐसा क्यों नहीं कर सकती ? लेकिन पुरूष वर्ग तथा समाज का इस

---

[1] डॉ0 प्रमिला कपूर–कामकाजी भारतीय नारी, पृष्ठ–36

तरफ क्या दृष्टिकोण है? स्त्रियों के जैसा उनके दृष्टिकोण में इस तेजी से परिवर्तन नही आया है पुरूष तो अभी भी दोहरे मापदण्ड–अपने लिए एक और स्त्रियों के लिए दूसरा......लिए बैठा है। नारी और पुरूष के नैतिक और अनैतिकता सम्बन्धी दोहरे मानदण्डों के फलस्वरूप दोनों के दृष्टिकोणों में ताल–मेल नहीं बैठ पाता, जिसका परिणाम उनके अन्तर वैयक्तिक सम्बन्धों में इसी प्रकार के तनाव, संघर्ष और कुसामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होना होता है।[1]

[1] डॉ0 प्रमिला कपूर–कामकाजी भारतीय नारी, पृष्ठ–39

(ग) नारी उपन्यासकारों की प्रेरणा भूमि :

मानव चेतन एवं जिज्ञासु प्राणी है। परिवेश का प्रभाव चेतन प्राणी पर पड़ना स्वाभाविक है। नैसर्गिक तथा आनुवंशिक आधार पर प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताओं में अन्तर होता है, तथापि परिवेश में मौजूद दृश्य जगत और अदृश्य भाव तथा विचार को अनुभव करने तथा उस अनुभव को व्यक्त करने के लिए उसे प्रेरित करते हैं। विश्व की प्रायः सभी अभिव्यक्तियां इसी आधार पर सम्भव हो सकी हैं। किन्तु कला का सम्बन्ध तो निश्चय ही ऐन्द्रिक अथवा अतीन्द्रिय माध्यम से प्रभविष्णु अनुभूति को अभिव्यक्ति देने की लालसा से हुई है। अपनी अनुभूति को प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से व्यक्त नहीं कर सकता। दृश्य विचार और भाव का प्रभाव भी सब पर समान नहीं पड़ता। अपनी अनुभूति को जो जितनी सफलता से अभिव्यक्ति प्रदान करता है, वह उतना ही बड़ा कलाकार होता है। कलाओं में काव्य कला का स्थान सर्वोच्च है और कालान्तर में काव्य ही साहित्य के रूप में परिशोध्यमान अवबोध बन गया। साहित्य की विविध विधाओं में से उपन्यास हिन्दी के लिए अपेक्षाकृत नयी विधा है। उसमें भी नारी उपन्यास लेखक और भी नया है। परिवेश का प्रभाव नारी के तन और मन पर भी पड़ता है। पहले भी भित्तिचित्र इत्यादि लोक कलाओं तथा लोक साहित्य के माध्यम से नारी पर पड़ने वाला यह प्रभाव अभिव्यक्त होता था। सम्प्रति युगीन परिस्थितियों में भारी परिवर्तन आया है। नैतिकता और जीवन मूल्यों की परिभाषायें बदली है। विज्ञान के आलोक में रूढ़ियां, अनुचित परम्परायें तथा अन्धविश्वास खण्डित हुये हैं। अपनी प्रतिबन्धित

चाहारदीवारी से बाहर निकल कर नारी ने भू–मण्डलीय संदर्भो, वास्तविकताओं तथा परिस्थितियों से साक्षात्कार किया है। उसकी सोच और संवेदना लोक, अभिजात्य तथा वैश्विक सरोकारों के सम्मिश्रण से अभिनव रसायन के रूप में अस्तित्वमान हुई है। प्रत्येक कलाकार का प्रथम प्रेरक तत्व तो प्रकृति में यत्रतत्र विकीर्ण सौन्दर्य है। जब कलाकार के मन पर सौन्दर्य का चाक्षुस प्रभाव पड़ता है, तो वह यथाशक्य अपनी प्रतिभा के अनुसार उसे लोकार्पित करता है। उसकी चेतना की गहराइयों में पहुँचकर सुख कर प्रतीतियां उसे विद्रवित करती हैं और फलस्वरूप कहीं वीणा के तार झनझना उठते हैं, कहीं बाँसुरी बजने लगती है, कहीं किसी कवि कण्ठ को पार कर गोमुख से निकली गंगा की भाँति कवि के अन्तस्थल से कविता का प्रवाह फूट पड़ता है। यदि अप्रीतिकर, अशुच तथा अवांछित प्रभाव अन्तरसत्ता को मथता है, तो प्रतिक्रिया में शुभ,काम्य तथा रूचिकर का आह्वान करती पीड़ामयी अभिव्यक्तियां धरती से गगन तक को अपनी अस्मिता से सराबोर कर देती हैं।

उपन्यास आधुनिक युग की उपज है। इस विधा के माध्यम से समाज के प्रत्येक कोने को देखा परखा गया है और उसकी अभिव्यक्ति की गयी है। प्राकृतिक परिवेश के उपरान्त, जो कि नारी उपन्यासकारों की सहज प्रथम प्रेरणा भूमि है, समकालीन सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक परिवेश नारी उपन्यासकारों की प्रेरणा की आधार भूमि है। सभ्यता चाहे मध्य युगीन हो या आधुनिक, नारी का शोषण ही करती है। हर तरह की सभ्यता नारी को

अपने सांचे में ढालती रही है। उसके निजी व्यक्तित्व को तहस–नहस करती रही है अन्तर मात्र यही है कि हर सभ्यता के तरीके अलग–अलग हैं। आधुनिकता का ढिढोरा पीटने वाली आधुनिक सभ्यता जिसे 'कल्चर' कहा जाता है, वह भी मध्य युगीन सभ्यता का नया रूप है। यहां नारी के प्रति उदारता और स्वतन्त्रता का आभास होता है। अंग्रेजियत का अपनाव रिस्तों में एक तरह का खुलेपन का एहसास देता है। इसीलिए ऐसे कल्चर में पलने वाली युवतियों को स्वतन्त्र होने का बाह्य आभास जरूर होता है, लेकिन जब वह अपने अलग व्यक्तित्व का बोध करने लगती हैं, तब बड़ी चालाकी से उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण यह सभ्यता अपने अनुरूप ढाँचे में करती है। यहाँ व्यक्तित्व पर सीधे हमला नही किया जाता। व्यक्तित्व रूपान्तरण के लिए दमन नीति का भी यहां प्रयोग नहीं किया जाता एक सुनियोजित षड़यन्त्र द्वारा व्यक्तित्व विहीन बनाया जाता है और उसके बाद उसे अपने साँचें में ढाल दिया जाता है। एक तरह से मनोवैज्ञानिक रूप से उसे रूपान्तरित किया जाता है।[1]

महिला उपन्यास लेखिकाओं ने इस छद्म 'कल्चर' को पहचाना और अपने उपन्यासों में नारी पात्रों के माध्यम से इसे अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित हुई। इन नारी उपन्यासकारों ने अपने अनुभवों के आधार पर आज की नारी की सामाजिक नियति और मानसिकता को बड़ी गहराई से उकेरा है। ये लेखिकायें पुरूष लेखकों की तरह नारी को महिमामण्डित नहीं करतीं, उनको नकली रूप में पीड़ित भी नहीं करतीं, यह एक विशेष दायरे की नारी की पहचान समस्त

---

[1] अशोक हजारे तथा माधव सोन टक्के–समकालीन परिवेश और प्रासंगिक रचना संदर्भ7 पृष्ठ–41

परिणितियों के साथ उभारती हैं। ये विशेष दायरा है, पढ़ा–लिखा मध्य वर्गीय नारियों का दायरा। परिवेश-प्रेरित नारी लेखन यहीं तक सीमित है- यह कहना असत्य होगा कि नारी ने नारी की मनोदशा को जिस विशिष्टता से पहचाना है और जिस सुघरता से उसको अभिव्यक्ति दी है, उसके परिवेश में यह उसकी अन्तश्चेतना पर पड़ने वाले परिवेशगत यथार्थ के छल की प्रतिक्रिया है। सामाजिक संघर्ष, सामंती व्यवस्था पर पराधीनता की छाया, परम्पराओं का अवांछित दबाव, शोषण, चाटुकारिता, सिफारिश, अन्याय तथा अनीति, बाध्यकारी वैवाहिक व्यवस्था, सामाजिक विसंगतियों, न्यूनताओं तथा विकृतियों की उपस्थिति, ज्ञान और विज्ञान के प्रभाव से तर्कयुक्तता तथा अनुचित और अन्याय की पहचान जैसे अनेक कारण नारी उपन्यासकारों की सृजन धर्मिता की प्रेरणा भूमियां हैं।

* *

द्वितीय अध्याय

(अ) नव सृजित जीवन मूल्यः एक संश्लेषणात्मक अध्ययन :

मानव की मूल प्रवृत्तियाँ–भोजन, निद्रा, मैथुन, भय उसके जैविकीय संदर्भो में निरंतर ही उसे स्वार्थ की ओर धकेलती रहती है। इन प्रवृत्तियों पर आश्रित प्राणी जिजीविषा से सम्प्रेरित होकर ऐन्द्रिक तृष्णाओं की परितृप्ति के लिए जीवन प्रवाह में बहने लगता है। प्रवाह का पथ अधोगामी ही हो सकता है। सिर्फ अपने लिए अथवा अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए जिया जाने वाला जीवन भोग तथा वासना की अतिशयता से श्लथ होकर समाज के लिए अनुपादेय हो जाता है। जहाँ इस स्वार्थवृत्ति तथा भोगवादी असामाजिकता के विरूद्ध त्याग और परमार्थ पर आधारित जीवन पद्धति अपनाई जाती है–वहीं से मूल्यों का ऊर्ध्वगामी पथ प्रारम्भ हो जाता है।

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'[1] ईशावास्य उपनिषद का यह वाक्यांश त्याग पूर्वक भोग का उद्‌बोधन देता हुआ वस्तुतः मूल्यवादी समाज की ही आधार शिला रख रहा है।

सिर्फ अपने लिए जियेगें। सारे संसार की सुख सामग्रियाँ हमारी ही हो जायं। सारा विश्व हमारी इच्छानुसार ही चले, ऐसी मानसिकता के स्थान पर सभी के साथ हम भी जियेगें। आवश्यक सामग्रियों को आपस में मिलकर उपभोग में लायेंगे। नैतिक तथा सामाजिक नियमों के अनुसार हम भी चलेगें– ऐसी

---

[1] ईशावास्य उपनिषद गीता प्रेस गोरखपुर,, पृष्ठ–1

मानसिकता ही मूल्यवादी समाज की प्रस्थान बिन्दु है। इसका ही विकसित रूप है हम चाहे न जियें, बल्कि हमारे जीवन को लेकर वे जियें, जो 'बहुजन हिताय' 'बहुजन सुखाय' व्यवस्था ला सकें।

मूल्यों की अवधारणा करते समय मनुष्य अपने से बड़ा कुछ पहचानता है, इतना बड़ा, जो कि मनुष्य के जीवन से बड़ा है और उसके बड़े होने की कसौटी यह है कि उसके लिए जान भी दी जा सकती है। इसी से समर्पण की भावना का जन्म होता है। यदि वह इतना बड़ा नहीं है, जिसके लिए जीवन दिया जा सके, यानी जीवन ही सबसे बड़ा मूल्य है, तब वह वास्तव में मूल्य नही है। वे मान्यताएं, वे सिद्धान्त, वे गुण जो अपनी अन्तर्निहित अर्हता या क्षमता के कारण मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनाते हैं– मानव मूल्य हैं। कुछ मूल्य व्यक्तिनिष्ठ हो सकते हैं, किन्तु व्यक्ति से कुटुम्ब, कुटुम्ब से जाति, जाति से राष्ट्र, राष्ट्र से विश्व और विश्व से प्राणी मात्र के हित के लिए मान्यताये, सिद्धान्त अथवा गुण क्रमशः बड़े होते जा रहे मूल्य हैं। अपने जीवन की रक्षा करना भी मूल्य हो सकता है, किन्तु यह मूल्य व्यक्ति केन्द्रित होने के कारण अति सीमित है। जिसका होना अच्छा माना जाता है; उसको स्थापित करने या बनाये रखने के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान करके और इसी क्रम में कौटुम्बिक और जातिगत आदि स्वार्थों का बलिदान करके उस 'अच्छे' को सुप्रतिष्ठित करने की भावना से युक्त आचरणात्मक विचार एक बड़ा मूल्य हो जाता है। हम योग दर्शन की बात लें। मानव के आधारभूत वांछनीय गुणों को यम कहा गया है। सत्य, अहिंसा,

ब्रह्मचर्य, आस्तेय तथा अपरिग्रह इन पांचों पर ध्यान देने पर इन गुणों की बुनियाद में व्यक्ति के स्थान पर समाज के लिए परित्याग की समाजवादी चेतना प्रतिष्ठित है। युग पर युग बीतते जायेगें किन्तु इन गुणों की प्रासंगिकता कभी समाप्त न होगी।

योग दर्शन में ही नियम कहे जाने वाले पांच वांछनीय गुणों को लें। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान-ये नियम समाज की तुलना में व्यक्ति के लिए कहीं अधिक उपयोगी हैं। यम और नियम में मौलिक सूक्ष्म अन्तर यह है कि व्यक्ति अपना जीवन भीतर से कैसे जिए–इससे नियम का ज्यादा सम्बन्ध है और व्यक्ति अपना सामाजिक जीवन कैसे जिए–इससे यम का ज्यादा सम्बन्ध है। व्यक्ति की तुलना में समाज बड़ा होता है। अतः नियम की तुलना में यम बड़े मूल्य हैं। धृति या धैर्य एक मूल्य है, किन्तु धैर्य नाम का यह गुण यदि किसी डाकू में है (डाकू में धैर्य का गुण अवश्य होता है) तो यह इसका व्यक्तिनिष्ठ गुण तो हो सकता हैं किन्तु समाज के लिए अनुपयोगी बल्कि हानिकारक होने के कारण डाकू के धैर्य को मूल्य नहीं माना जाता। महात्मा गाँधी ने देश की स्वतन्त्रता के लिए धैर्यपूर्वक अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया। गाँधी जी का धैर्य व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अथवा व्यक्तिगत लाभ के लिए न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में होने के कारण महामूल्य बन गया।

यह सृष्टि परिवर्तनशील है, समाज में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अतः मूल्यों में भी परिवर्तन और परिशोधन होता रहा है। मूल्य यदि

नितनूतनता खो देतें हैं, तो वे रूढ़ि बनकर रह जाते हैं, जो समाज की विकासोन्मुख गति के अवरोध हैं। दया एक सार्वकालिक गुण है, यदि हम पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं हैं अर्थात् किसी के प्रतिं किसी कारण से वैरभाव नहीं हैं, तो उस व्यक्ति (वैदिककाल में प्राणि मात्र) के कष्ट से द्रवीभूत होकर उसके प्रति दयालु हो जायेंगे। सामाजिक चेतना में परिवर्तन हुआ और आज दया जो कि शाश्वत मूल्य की परिगणना में आता था, सहानुभूति और प्रेम के रूप में परिशोध्यमान हो गया। इस युग में तो दया करना एक अहंकार माना जायेगा जो कि मूल्यों में विलोम है।

वर्तमान युग में यह बोध जाग्रत हुआ है कि दया किसी व्यक्ति पर तब होती है, जब हम बड़े हों या उसकी तुलना में हमारी स्थिति उच्च हो। प्रेम अथवा सहानुभूति समानता का लक्षण माना जाता हैं अतः दया करने के लिए दयालु और दया पात्र–दो ऐसे वर्ग प्रकाश में आयेगें; जिससे समकालीन समानतावादी युग–बोध ही आहत हो जायेगा। तो भी नाम कोई भी दे दिया जाय, पीड़ित के प्रति सम्बेदना की प्रतीति, जो कि शाश्वत है-नष्ट नही की जा सकती। इसी प्रकार हम सेवा को लें, यह एक शाश्वत मूल्य है। इसका स्वरूप अनादि और अनन्त है। सेवा के बिना समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। शिशु माँ की सेवा सुश्रुषा से ही बड़ा होता है। घर के बयोवृद्ध सदस्यों को सेवा की आवश्यकता है। सच बात तो यह है कि सामाजिक व्यवस्था में सेवा एक प्रमुख कारक तत्व है। किसान अन्न उपजा कर समाज की सेवा करता है जबकि सैनिक विदेशी आक्रमणों से देशवासियों को सुरक्षित रखकर उनकी सेवा करता है। इसी प्रकार अध्यापक ज्ञान के प्रचार–प्रसार से सेवा कार्य करता है, किन्तु सेवक और सेव्य के

वर्गीकरण आधारभूत सामन्तवादी मानसिकता से जुड़ा 'सेवा' शब्द वर्तमान युग का मूल्य नहीं हो सकता। सामन्तवादी दृष्टिकोण से सेवक के लिए सेवा एक वाध्यता है, जो शोषण के भाव को ध्वनित करती है। इस युग में सेवा कर्तव्य तो हो सकती है, स्वान्तः सुखाय तो हो सकती है, किन्तु वह वाध्यता नहीं हो सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि शाश्वत कहे जाने वाले मूल्य भी परिवर्तनशील समाज के अनुसार ही परिशोध्यमान होते रहते हैं।

भारत में मुक्ति अथवा मोक्ष सदा से सर्वोच्च मूल्य रहा है, ''सा विद्या या विमुक्तए''—अर्थात् विद्या वही है जो मुक्ति का द्वार खोल दे। चार आर्य पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से अन्तिम और सर्वोच्च पुरूषार्थ मोक्ष कहा गया है। प्राचीन और मध्य युगीन विचारकों के दृष्टिकोण से मुक्ति परलोक केन्द्रित थी। वह जहां तक परलोक केन्द्रित है, वहां तक मध्य युग है और जहां से मुक्ति सीधे मानव मुक्ति या स्वाधीनता से जुड़ जाती है, वहीं से आधुनिक समाज का जन्म होता है। समकालीन सुधी विचारकों की दृष्टि में मुक्ति निश्चय ही मानव मुक्ति से सम्बन्धित है। परलोक केन्द्रित मुक्ति के प्रति अमूर्त कल्पनाओं के प्रासाद धराशायी हो गये। यहीं इस लोक में सभी स्तरों पर आत्म निर्भरता, स्वयत्रंता तथा जीवन के परिपूर्ण विकास के लिए सर्वोत्तम माध्यमों की उपलब्धि वर्तमान युग के मनीषियों द्वारा मुक्ति की परिभाषा है। हम देखते हैं कि मुक्ति का शाश्वत और सर्वोच्च मूल्य अपनी पुरातनता की केंचुल को फाड़कर नये अर्थ बोध के साथ स्वतन्त्रता के रूप में ग्राह्य हो गया है।

प्राचीन परिस्थितियों में मुक्ति की जो भी उपादेयता रही हो, किन्तु यह युग मुक्ति को व्यक्तिवादी चेतना का पलायनवादी उत्कर्ष मानता है। अब तो हर किसी बन्धन के खिलाफ विद्रोह का मूल्य विकसित हुआ है। चाहे बन्धन राजनैतिक हो, चाहे धार्मिक अथवा सामाजिक। भ्रष्टाचार और शोषण भी सामान्य जीवन प्रवाह के लिए उदग्र विसंगतियां हैं। इन सबसे मुक्त होकर मानवीय स्वाधीनता की स्थापना इस युग का सर्ववन्द्य मूल्य बन चुका है।

नव सृजित जीवन मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया में 'लोक-मूल्य' का जन जीवन से जुड़े पिछले 35–40 वर्षो से विशेष आग्रह रहा है। अतः जन जीवन अथवा लोक जीवन से सम्बन्धित अनेक वस्तुएं जो पहले अनादृत थीं–अब विशेष प्रतिष्ठित हुई हैं। लोक कलाएं, लोक कथाएं तथा लोकगीतों का साहित्य पर पड़ने वाला प्रभाव–'लोक' एक अर्जित मूल्य के रूप में स्थापित हो गया है। दूसरी ओर भारत जैसे विविध धार्मिक मान्यताओं वाले देश के लिए धर्म से जुड़ी वैयक्तिक चेतना के स्थान पर सर्व धर्म समभाव की मानसिकता युगीन अनिवार्यता है। इस प्रकार धर्म निरपेक्षता नव सृजित और सर्वमान्य जीवन मूल्य बन गया है।

युग चङ्क्रमण की गतिशीलता परिवर्तन की प्रणाली पर अवस्थित है। काल-यात्रा के स्वागत के लिए नित नूतनता की बन्दनवारें सजी हुई होती हैं। पुरातनता का व्यामोही ऋतात्मक व्यवस्था के सम्भार को न सहकर कालचक्र की उड़ती धूल से दब जाता है और उसके ऊपर से गुजरती युग-यात्रा जारी रहती है। युग के सूक्ष्म परिवर्तनशील स्पन्दनों से महसूस करने से बड़ा कोई दूसरा युग

मूल्य नही हो सकता। क्रान्तिदर्शी मनीषी परिवर्तन की कुक्षि में विकसित हो रही नव्य कलिकाओं की मुस्कान को पहचानता है और अपनी संवेदनशीलता से उनकी ताशीर को जानता है। 21वीं शताब्दी के प्रथम दशक में प्रविष्ट वर्तमान युग ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में निरंतर प्रगति करता हुआ भौतिक विकास के उच्च बिन्दुओं को छू रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सुयोग सृजित हुए हैं। गाँव तथा कबीलों के स्थान पर महानगरीय संस्कृति विकसित हुई है। जनाधिक्य तथा इच्छासंकुल आवश्यकताओं ने संकीर्ण उपभोक्तावादी मानसिकता को जन्म दिया है। शोषण, उत्पीड़न अनाचार, स्वैराचार तथा भ्रष्टाचार के रोज नये तेवर देखने को मिलते हैं। परिणाम स्पष्ट है। हताशा, कुण्ठा, अराजकता, अशान्ति तथा लक्ष्यहीनता के बोझ से लदा वर्तमान युग का कारवां विसंगतियों की मृग मरीचिकाओं की ओर चलता जा रहा है। युग बोध के प्रति संवेदनशील ईमानदार रचना धर्मिता समकालीन उपन्यास साहित्य में विद्रोही आवाज के साथ उपस्थित है। इन परिस्थितियों की प्रतीति से युक्त साहित्यकार के लिए अपनी साहित्यिक सृष्टि में युगीन अवबोध को प्रस्तुत करने और अमानवतावाद के खिलाफ विद्रोह का बिगुल बजाने से बड़ा और कौन युग मूल्य हो सकता है?[1]

मूल्य बोध निश्चय ही एक सर्जक प्रतिक्रिया है। यह ठीक है कि मूल्यों की स्थिति साहित्य मात्र में मिलेगी पर उनकी जैसी सजग प्रतीति आधुनिककाल में है, वैसी कदाचित इसके पूर्व में नही थी। पहले बँटवारा था

---

[1] 1991 में गाँधी महाविद्यालय, उरई में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय सेमिनार 'जीवन मूल्य विविध आयाम' में 'निदेशक का निवेदन' शीर्षक आत्म कथ्य में डॉ0 दिनेश चन्द्र द्विवेदी के कथन से उद्धृत।

साहित्य और नीतिशास्त्र के बीच। मूल्यों की रचना, साहित्य में होती थी और उनकी व्यवस्था नीति शास्त्र में। किन्तु सम्प्रति साहित्य मूल्यों की रचना तो करता ही है, उनकी व्यवस्था में भी उसकी रूंचि विकसित हुई है। एक प्रकार से साहित्य ने एक अतिरिक्त दायित्व अपने ऊपर लिया है। आधुनिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यदि हम विचार करें तो हम देखेंगे कि मानवीय स्वतन्त्रता का एहसास इस युग में तीब्रतर हुआ है। मानवीय स्वातन्त्र्य और दायित्व अविच्छिन मूल्य हैं। दायित्व का अनुभव वही करेगा जो पहले स्वतन्त्र होगा और इन दोनों की अन्तर्प्रक्रिया में रचनात्मकता की सम्भावना है, जो मानवीय वैशिष्ट्य का प्रमुख आधार है और फिर इस रचनात्मकता से आस्था विकसित होती है। साहित्य आस्था में बनता है और फिर स्वयं नई आस्थाओं को जन्म देता है।[1] इस रूप में स्वातन्त्र्य, दायित्व, रचना और आस्था आधुनिक साहित्य के विशिष्ट मूल्य कहे जा सकते हैं, जो एक दूसरे से अनिवार्य रूप में जुड़े हुए हैं। मूल्यों के जांचने की प्रक्रिया रचना का सहज धर्म है ओर विघटन साहित्य में मूल्यों का नही होता। समाज के मूल्य बदलते रह सकते हैं और उस साहित्य के प्रति रूचियाँ भी बदलती रह सकती हैं। व्यास या कालिदास, टाल्सटाय या ईलियट और निराला—इनमें से किसी भी रचनाकार के जीवन मूल्य अपनी रचना के सम्बन्ध में नहीं बदलते। विघटन का प्रश्न सामाजिक संदर्भो में हो सकता है। साहित्य के सम्बन्ध में मूल्यों का अन्वेषण, पुनरावेषण तथा परिशोधन होता है।

---

[1] रत्ना लाहिड़ी—मूल्य संस्कृति साहित्य और समय, पृष्ठ—02

भारत में आधुनिकता का जब उन्मेष हुआ, तो आधुनिकता के साथ भारतीय बौद्धिकों का सम्बन्ध प्रेम–घृणा का सम्बन्ध था।[1] इस प्रेम–घृणा के सम्बन्ध को और स्पष्ट किया जाय तो यह स्पष्ट निकलता है कि आधुनिकता के कई लाभ तात्कालिक, प्रत्यक्ष और ठोस थे। हमें विज्ञान के द्वारा जो मिला जैसे–तार, रेल, प्रेस, टेलीफोन, वायुयान जैसी चीजें, उसके महत्व को नकारा नही जा सकता, पर इसी के साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक चिन्तन की प्रक्रिया हमको हमारे अंग्रेजी साहित्यकारों से मिली थी और वे हमारे ऊपर घनघोर अत्याचार कर रहे थे हमारा शोषण कर रहे थे; जिसके प्रति सन् 1857 में जो क्षोभ की भावना थी, वह युद्ध स्तर पर प्रकट हुई थी और इसीलिए उनके दिये हुए मूल्य वस्तुतः कहीं हमसे टकराते थे तो कहीं हमकों प्रभावित भी करते थे और इसी स्थिति में एक बड़ी और पुरानी संस्कृति के उत्तराधिकारी होने के नाते हमने अपनी संस्कृति को बहुमूल्य मान कर उसके आधार पर अपने जीवन की पुनर्रचना करने की चेष्टा की।[2]

इस काल खण्ड की सामाजिकता की यदि हम सूक्ष्म पड़ताल करें कि हमारा समाज न कोरे अनुकरण को स्वीकार कर रहा था न वर्जन को। अनुकरण और वर्जन इन दोनों के परे समन्वय स्वीकार करते हुए वह एक हाथ में विज्ञान की मसाल तो दूसरे हाथ में रामायण, महाभारत की परम्परा को थामे रहा

---

[1] विष्णुकांत शास्त्री–मूल्यों की द्वन्द्वात्मकता, पृष्ठ 47

[2] रत्ना लाहिड़ी–मूल्य संस्कृति साहित्य और समय, पृष्ठ 06

था। हिन्दी की महिला उपन्यासकारों की कृतियों में समन्वय का नवसृजित जीवन मूल्य विविध परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

स्वाधीनता आज का बहुअभिनन्दित मूल्य है, स्वाधीनता का अर्थ है कि मनुष्य के मस्तिष्क में यह आग्रह हो कि वह अपने विवेक को अनायास दूसरी क्षमता से प्रभावित न होने दे। जिसको उसका विवेक सही मानता है, उसको कहने का उसके अनुसार जीवन जीने का और उसको युक्ति-संगत सीमा तक ले जाने की छूट उसको मिलनी चाहिए। ऐसा करते समय पुरानी मान्यतायें, जाति या राज्य उसके युक्तिसंगत प्रयास को बदल देने का, प्रभावित करने का या उससे उसको छुड़ा देने का प्रयास करें, तो यह इसे 'अनुचित' समझना भी स्वाधीनता के समर्थन में एक नव सृजित मूल्य है।

स्वाधीनता का मूल्य वस्तुतः एक विवेकपूर्ण मूल्य है। यदि स्वाधीनता और स्वच्छन्दता का एक ही अर्थ समझा जाय, तो ऐसी स्वाधीनता आत्मघाती एवं असामाजिक होगी। किन्तु विवेक सम्मत स्वाधीनता से जुड़ा जो व्यक्ति अपनी स्वाधीनता के लिए आग्रही होगा व अन्य की स्वाधीनता का समादर करेगा और दूसरों को भी बल पूर्वक उनके चिन्तन से, उनके जीवन मूल्यों से, विरहित करने का दुष्प्रयास नही करेगा। इसी तरह से उसे स्वयं के उत्तरदायित्व का बोध होगा।

मूल्य शब्द मूलतः दो स्रोतों से आया है। मुख्य रूप से यह अर्थ नीति से आया है जहां उसका आशय होता है, वस्तु का वह अन्तरनिहित गुण

जिसके आधार पर दूसरी वस्तुओं से अदला–बदली करते समय एक निश्चित परिमाण में दूसरी वस्तु प्राप्त करने में वह समर्थ हो। मूल्य का दूसरा स्रोत नीतिशास्त्र है, मानव जीवन बिताने के जो बहुत से आधारभूत सिद्धांत हैं; उन सिद्धांतों में भी सरलता हो सकती है और उस सरलता के आधार पर अगर सचेत विवेकशील व्यक्ति अपना जीवन अधिक उन्नत बनाना चाहता है, तो उसको कुछ बुनियादी विश्वासों, नीतियों या सिद्धांतों को स्वीकार करना चाहिए। इसके लिए मूल्य शब्द प्रकाश में आया। इसका मौलिक आशय है कि अधिकतम का कल्याण हो। यह मूल्य शब्द आर्थिक नैतिक क्षेत्रों से होता हुआ साहित्य क्षेत्र में अपना प्रभाव विस्तृत कर रहा है। मूल्यों की यह चर्चा लगभग चार दशकों से न केवल हिन्दी, प्रत्युत् पूरे भारतीय साहित्य में होती आ रही है। मूल्य चर्चा की ये जो परम्परा हिन्दी में है, वह जैसे पश्चिम से बहुत सारी विचारधारायें हमारे सामने आयीं; उनमें से यह एक मूल्य चर्चा भी हैं। वस्तुतः मूल्य या 'वैल्यू' जिनको कहते है, वे कैसे बनते हैं, उनका क्या रूप होता है–इनको लेकर अनेक मत और विचार पश्चिम में भी हैं और हमारे यहां भी हैं। सारी कठिनाई यह होती है कि पुराने समय में तो मूल्य की अवधारणा का एक मूलस्रोत होता था–जैसे ईश्वर था, धार्मिक संस्था थी, सारे मूल्य कहीं न कहीं घूमफिर कर ईश्वर या घर सम्बन्धी व्यवस्था के इर्दगिर्द चक्कर काटते थे। उसका एक आदि स्रोत होता था जो ईश्वर अथवा धर्म था। ईश्वर और धर्म–इन दोनों ही स्थितियों को एक बार में स्वीकार करने के बाद जो आधुनिक मानव है, आधुनिक समाज है, उसके सामने एक बिल्कुल विलक्षण स्थिति है। वहाँ मूल्यों की परिकल्पना के लिए कोई बना बनाया

आधार पहले से ईश्वर या धर्म जैसा मौजूद नहीं है। इस लिए मूल्यों से अपने समाज को, अपनी व्यवस्था को सीधे-सीधे एक शब्द देना चाहें तो इतिहास के भीतर से उभरने वाली जो अवधारणायें है, उनको हम यथा समय मूल्य का नाम देते हैं। अब मूल्य के लिए कोई एक आधार सम्भव नहीं है।[1] हमारे सामने मध्य युगीन मानव जैसा कोई एक स्थाई केन्द्र या सत्ता नही है-धर्म या ईश्वर जैसा, जिसे मूल्य का एक मात्र उत्स माना जा सके, तो ऐसी स्थिति में मूल्य निरंतर गतिशील स्वरूप वाले तत्व हैं; जो सामाजिक परिवर्तन तथा इतिहास विकास के भीतर से पैदा होते हैं और उसमें लय भी होते रहते हैं। परिवर्तन की इसी धारा से समयानुकूल उदभूत मूल्यों ने सामाजिक संचेतना को अभिनव दिशायें दी है और अनेक नव जीवन मूल्यों का प्रादुर्भाव हुआ है। मूल्य शुभत्व की आकांक्षा से उपजते हैं। मूल्यवत्ता समाज को और अपने आपको सबके हित की दशा में ले जाता है। इसकी प्रभाव सीमा में केवल आदमी नही होता, उसका पूरा परिवेश, पशु-पक्षी, पहाड़, खेत-खलिहान, मैदान, नदी-नाले आदि सभी आ जाते है। सर्वजनाय सर्वहिताय में स्वार्थ के लिए प्रयुक्त रीतियां-नीतियां और प्रयत्न वस्तुतः मूल्यों के क्षेत्र में किये जाने वाले छल हैं, जिनसे सभ्यतायें लहू-लुहान हुई हैं। मानव के पास उसे प्राप्त साधनों में से सर्वोपरि साधन शब्द अर्थात् भाषा हैं। शब्द केवल छपा हुआ शब्द नहीं है-बोला हुआ, गाया हुआ और मंचित शब्द भी शब्द है। शब्द जब व्यक्ति और उसके परिवेश के हित में सार्थक भूमिका का निर्वाह करते हैं, तब उनसे मूल्यवादी साहित्य का सृजन होता है। शाश्वत मूल्य सार्वभौम होते हैं, किन्तु

---

[1] डॉ0 केदारनाथ सिंह-बदलता समाज और जीवन मूल्य, पृष्ठ-09

युगीन परिस्थितियों में मूल्यों का अवश्यम्भावी परिवर्तन और परिशोधन होता है। युगीन साहित्य में इन मूल्यों की उपस्थिति साहित्यिक कीर्ति पताका है। नारी उपन्यासकारों की कृतियों में भी शाश्वत मूल्यों के साथ–साथ परिवर्तित तथा नव सृजित जीवन मूल्य अवस्थित है। आधुनिक युग में मुक्ति के स्थान पर स्वतन्त्रता तथा सेवा के स्थान पर सहायता का मूल्य परिशोध्यमान हुआ है। धर्मनिरपेक्षता, वैज्ञानिककता, तर्कशीलता, अनुचित और अवांछित तत्वों के प्रति विद्रोह, भूमण्डलीय संस्कृति के मनोवांछित तत्वों के प्रति स्वीकृति, सतीत्व की नई परिभाषाओं को सह सकने की मानसिकता लोक संस्कृति के प्रति अभिनव अभिरूचि आदि आज के नव सृजित मूल्य हैं।

(ब) बदलते परिवेश के परिप्रेक्ष्य में नारी युग बोध : समकालीन नारी उपन्यासकारों की कृतियों में :

आज का परिवेश निरन्तर परिवर्तन की दिशा में गतिशील है। वैज्ञानिक प्रभाव तथा भूमण्डलीय संस्कृति का प्रभाव मानवीय परिवेश में निरंतर परिवर्तन कर रहा है। बदलते परिवेश ने आज के मानव को स्वयं को बदलने के लिए प्रेरित किया है। वह एक 'नयापन' प्राप्त करना चाहता है। समय के साथ तीव्रता की गति बढ़ी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा अनिवार्य है। इस प्रभाव से नारी अप्रभावित कैसे रह सकती थी। अवांछित परम्पराओं, रूढ़ियों तथा रिवाजों को धक्का मारकर आज की नारी वैज्ञानिक सार्थकता में विश्वास करने लगी। उसके चिन्तन में तर्क शीलता उत्पन्न हुई है।उसकी भावुकता पर सोच का अंकुश लगना प्रारम्भ हो गया है। पुरातनता के अन्धमोह से उबरकर आज की नारी वांछित परिवर्तन का बांहे पसार कर स्वागत कर रही है। जिन बन्धनों से उसको बड़ी चालाकी से युगों पूर्व बांधा गया था, उन्हें आज की नारी पहचानने लगी है और तोड़ने का हर सम्भव प्रयास करना चाहती है। शिक्षा, दूरदर्शन, पत्रपत्रिकाओं, देशाटन, विश्व के विविध अंचलों में होने वाली नारी स्व तन्त्रता आन्दोलनों, पश्चिमी विचारकों की पुस्तकों के अनुशीलन ने पिजड़ें में बन्द भारतीय नारी को उड़ने के लिए एक विस्तृत आसमान दे दिया है। इस आधार पर नारी ने सर्वत्र अनुकूलता ही नही प्राप्त की है। अति भौतिकता तथा उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव से समाज के अन्य वर्ग के साथ ही नारी भी प्रभावित हुई है। यह कहना और उचित होगा कि अन्य वर्ग की तुलना में अपसंस्कृति का कहर नारी वर्ग पर विशेष रूप से

पड़ा। सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक तथा भावनात्मक संदर्भो में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। इन बदली हुई परिस्थितियों का कुछ लाभ तो नारी को अवश्य हुआ है, किन्तु अपेक्षाकृत वह घाटे में ज्यादा रही है विपरीत परिस्थितियों की मार झेलते–झेलते बहुधा नारी उनकी आदी हो जाती है और उसकी विषम स्थिति उसे सालने नही लगती। इस संदर्भ में मंजुल भगत का उपन्यास 'तिरछी बौछार' देखा जा सकता है।

"11 बजे रात को शराब के भभके छोड़ते अपने पति को उसने प्रश्नवाचक दृष्टि से निहारा कि क्या वह उसके लिए खाना लगा दे, उसे पंलग पर बेहाल भरभरा कर गिरते देख वह किचन में अपना खाना परोसने चली गयी।"[1]

वातावरण का प्रभाव मानव व्यक्तित्व में अमिट रहता है। महिला उपन्यासकारों ने अपने–अपने उपन्यासों में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि जब अपने लोग पराये बन जाते हैं, तब वातावरण असहाय हो उठता है। "बेगाने घर में" उपन्यास के प्रमुख पात्र किशोर चन्द्र वकील के निधन के बाद उनकी हवेली का वातावरण परिवर्तित होने लगता हैं। उनके हितैषी नौकर–चाकर उस हवेली के वातावरण से ऊब कर चले जाते हैं। गनपति बाबर्ची हवेली में व्याप्त छल-छद्‌मों से आहत होकर अन्त में चला जाता है और कहता है कि अब इस बेगाने घर में नहीं रहेगें गाँव चले जायेगें।[2]

---

[1] मंजुल भगत–तिरछी बौछार, पृ0–47, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1970

[2] मंजुल भगत–बेगाने घर में, पृ0 61

आधुनिक युग में संयुक्त परिवार विघटित होते जा रहे हैं; क्योंकि यातायात के साधनों में हो रही उन्नति के साथ सास–बहू, देवरानी–जेठानी के बीच होने वाली कलह से पारिवारिक सामंजस्यता भंग हो रही है। व्यक्ति के सीमित स्वार्थ ने संयुक्त परिवार की समाजवादी अवधारणा को आघात पहुँचाया है। महिला लेखिकाओं ने आज भारतीय जन–जीवन को देखा है और उसका यथा तथ्य चित्रांकन करने का प्रयास किया है। निम्न पंक्तियों में कर्नल का नन्दी के प्रति उपालम्भ द्रष्टव्य है। यहां वह घर के बूढ़ों को खूसट की संज्ञा देता है–"हद है लगता है तुम्हे घर के खूसट बूढ़ों से मुहब्बत है, रात भी वहीं बिता आतीं है"।[1]

मात्र गृहणी न रहकर आज की नारी आत्म निर्भर होना चाहती है। व्यवसाय और नौकरी के कारण उसे घर के बाहर जाना पड़ता है। वह अपने पैरों पर खड़ी होने की सन्तुष्टि का स्वाद चख चुकी है। अतः इस स्वाधीनता के विरूद्ध कोई समझौता नही करना चाहती। ऐसी स्थिति में कभी–कभी पति से सम्बन्ध विच्छेद भी हो जाता है। कभी–कभी विवाह न करने अथवा विधवा हो जाने की स्थिति में नारी को एकाकी जीवन गुजारना पड़ता है। इस स्थिति में उसे कभी–कभी प्रतिकूल परिस्थितियों का भी सामना करना पड़ता है। घर के बाहर उसे कई बार पर पुरूष द्वारा दैहिक शोषण की स्थिति का सामना करना पड़ता है। जीवन संघर्ष से बहुत कुछ सीख कर इन प्रतिकूलताओं के खिलाफ आज नारी खड़ी हो सकती है। वह कभी झुकती व टूटती नही है। "फ्री लांसर" उपन्यास की

[1] शिवानी–चौदह फेरे, पृ0 17

नायिका सहाना मौसी की मृत्यु के बाद एकाकी जीवन व्यतीत करती है। वह स्वतन्त्र जीवन जीने के लिए व आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए फ्री लांसर बन जाती है। संयम द्वारा सम्पादित पत्रिका का 'कान्फीडेन्सियल' नामक कालम सहाना लिखती है। संयम का कई नारियों से सम्बन्ध रहा है वह सहाना से भी अपना सम्बन्ध बनाना चाहता है किन्तु सहाना "बॉस" को नाराज न करते हुए सूझ–बूझ से उसे परास्त करती है।संयम की बातो को सुनने का धैर्य सहाना में है। सहाना अपने जीवन में कर्म को महत्व देती है। "मेरी किस्मत मेरी अपनी मेहनत, मेरा अपना पुरूषार्थ"।[1]

अब नारी पुरूष की दासी नही रही। वह बेजबान न रहकर पुरूष को दो टूक जबाब देने की जरूरत और हिम्मत रखने लगी है। नरू और देव पति–पत्नी हैं। दोनो के बीच में नोंक–झोक होती है। देव कहता है–तुम्हें तो वकील होना चाहिए था, नरू पूछती है क्यों? देव कहता है कि तलाक लेने के लिए दूसरे वकील के पास जाना न पड़ता। "तलाक, तलाक, तलाक!ले क्यों नहीं लेते"? "इसलिए कि तुम्हें आजाद नही छोड़ना चाहता", "जिस दिन आजाद होना चाहूँगी रोक लोगे"?[2]

---

[1] सुभा वर्मा–फ्री लांसर, पृ0 74

[2] सुभा वर्मा–बीते हुए, पृ0 9–10

उपभोक्तावादी संस्कृति में अर्थ प्रमुख कारक तत्व है, अर्थाभाव के कारण दाम्पत्य जीवन दुःखपूर्ण हो जाता है। इस तथ्य का एहसास आज–कल नारी उपन्यासकार संजीदगी से करती हैं 'कोरजा' उपन्यास में अर्थाभाव के कारण फात्मा और करीम मियां के दुःख में दाम्पत्य जीवन का चित्रांकन किया गया है। फात्मा करीम मियां से पैसे मांगती है, वह कहता है–"जब देखो तब शाला वही पैसा, पैसा मैं भी इंशान हूँ लाऊं तो कहां से"? "तो तुम घर के खर्च के लिए पूरे इकठ्ठे पैसे क्यों नही दे देते जब देखो तब तुमसे मांगना पड़ता और हाथ फैलाना पड़ता है"। "हर महीने तेरा बाप भेज देता है जो मैं तुम्हें इकठ्ठा दे दिया करूँ।"[1]

यौन शुचिता के सम्बन्ध में भी नारी पारम्परिक स्थापनाओं से अलग हुई है। बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देह तृप्ति के लिए आज की नारी लक्ष्मण रेखाओं का उल्लंघन कर रही है, जिसे नारी उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है। 'रेत की मछली' उपन्यास में शोभन और कुन्तल विवाह करते हैं, कुन्तल शोभन की ही बनकर नही रह पाती, तो शोभन कहता है–

"कुन्तल तुम्हें शर्म नही आती पराये पुरूष से सम्पर्क स्थापित करके?"

"तुम कौन दूध के धूले हो "?

"पुरूष और नारी में अन्तर होता है"।

---

[1] मेहरूनिशा परवेज–उसका घर, पृ0 23

"अन्तर तो केवल नारी की विवशता का है"।

"तुमसे अच्छी तो वेश्यायें हैं"।

"हुंह मैं अच्छी तरह समझती हूँ कि देह की एवज में ही तुम मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हो।"[1]

महिला उपन्यासकारों ने सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा मानवीय धरातल पर की है, किन्तु पूर्व युगीन जर्जर प्रगतिरोधी मूल्यों का खुले रूप में बहिष्कार किया है। वैश्विक नारी संचेतना भारतीय नारी को भी प्रभावित कर रही हैं। नारी जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी पक्ष परिवेश से प्रभावित होकर परिवर्तित हुए हैं। भारतीय संस्कृति में सात जन्मों का साथ माना जाने वाला विवाह आदि आज समझौता माना जाने लगा है। विधवा विवाह, प्रेम विवाह, अतर्जातीय विवाह को मान्यता मिलने लगी है। महिला लेखिकाओं ने विवाह के सम्बन्ध में अनेक बदलते दृष्टिकोण को रेखांकित किया है। विवाह पूर्व की समस्याओं और वैवाहिक समस्याओं का चित्रण किया है। विवाह के सम्बन्ध में स्पष्टतः परिवर्तित 'युग बोध' है। विवाह से सम्बन्धित समस्यायें तथा बदलते परिवेश में नारी की परिवर्तित समझ का स्वरूप नारी उपन्यासकारों की कृतियों में जिस रूप में प्रस्तुत है, उसके कतिपय परिदृश्य द्रष्टव्य है।

---

[1] कान्ता भारती–रेत की मछली, पृ0 101

आज के युग में अपेक्षाकृत बिलम्ब से विवाह करना उपयुक्त समझा जाता है। पालने में शादी के दिन बीत गये हैं, किन्तु बढ़ती वय की सीमा होती हैं जिसे पार करने के बाद युवक अथवा युवती के लिए चुनावं का प्रश्न ही नही रह जाता। एक स्थिति वह आती है कि युवती सोचने लगती है कि उसकी बांह थामने वाला कोई नही मिलेगा। 'समर्पण का सुख' उपन्यास की गीता के शब्दों में "मैं अपने आपको बुजुर्ग महसूस करने लगी थी। मैं अपने घर की बड़ी लड़की तो थी ही। 18 साल की थी तब से बड़े लड़के की भूमिका निभा रही हूँ। मैं दुर्भाग्य से स्कूल में भी वर्षो सिफ्ट इंचार्ज बनी रही। चारों ओर से इतना बड़प्पन लद गया था मुझ पर कि मेरे कंधे असमय ही झुक गये थे। फिर भी दीदी पता नही कैसे मन के एक कोने में यौवन सिमटा सिकुड़ा बैठा रह गया। जीवनभर सबको सहारा देते-देते थक गयी थी और फिर एक सहारे के लिए फड़फड़ा रही थी। बड़ी साध थी कि मुझ पर भी किसी का अंकुश हो, किसी का शासन हो बस मैनें शादी की है दीदी।"[1]

विवाह के पूर्व प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच शारीरिक सम्बन्ध किसी भी युग में मान्य नही रहा। किन्तु आज के बदले परिवेश में प्रेमी युगलों के बीच आलिंगन, चुम्बन तो अति सामान्य हो ही गये है, अनेक स्थलों में सम्भोग भी अमान्य नही है। मेहरून्निशा परवेज की कृति "कोरजा" की उरबनों का विवाह होता है, विवाह के बाद चक्कर आ जाता है यह देख कर उसकी माँ नसीमा से

---

[1] मालती जोशी-समर्पण का सुख, पृ0-120

कहती है –नस्सो इसे दिन चढ़े हैं दोनों एक दम खुल कर साथ रहते थे, मेरी ही जिद्द पर शादी जल्दी हो रही है वरना इन दोनों को तो चिन्ता न थी।[1]

आज की वैवाहिक समस्याओं में दहेज एक बड़ी समस्या है। वस्तुतः नारी शोषण का यह घिनौना आधार है। आज की नारी दहेज प्रथा की निन्दा ही नही करती, उसके प्रति विद्रोह का साहस भी रखती है। प्रभा सक्सेना के उपन्यास "टुकड़ों में बटा इन्द्र धनुष" की नायिका चित्रा ने दहेज के प्रति अपना विद्रोह दर्ज करा दिया –

"माँ तुम तो पढ़ी–लिखी हो बाबू जी को समझाती क्यों नहीं? मैं कभी भी ऐसे परिवार में शादी नही कर सकती, जहां लड़का बेचा जाता हों"।[2] इसी तरह "क्योंकि" उपन्यास में शशिप्रभा शास्त्री ने श्यामा का चित्रण किया है। एक जगह श्यामा के विवाह की बात चलती है, ससुराल वाले जेवर की मांग रखते हैं, माँ मकान बेचकर जेवर बनवाकर उसका विवाह करती है। ससुराल में उसे इतना प्रताड़ित किया जाता है कि दुःखी होकर वह आत्महत्या कर लेती है। इस पर शकुन्तला कहती है–"इस देश के तमाम नवयुवक नपुंषक हो गये हैं। इनकी शादियों की बात चलती है और ये आटे के बबुये बने रहते हैं। इन्हें शर्म नही आती इनके माँ–बाप इनका सौदा करते रहते है, और ये भेड़–बकरियों की तरह सिर झुकाये अपने सौदे कराते रहते हैं। इनकी जानकारी में इनकी पत्नियों को

---

1 मोहिरून्निसा परवेज–कोरजा, पृ0 19

2 प्रभा सक्सेना–टुकड़ों में बंटा इन्द्र धनुष, पृ0 8

इतना सताया जाता है कि उन्हें जिन्दगी खुद खत्म करनी पड़ती है। जी करता है कि भेड़–बकरियों की तरह ही इन सब की गर्दन उड़ा दूँ।"[1]

नारी आज पुरूष के साथ कदम मिलाकर प्रत्येक क्षेत्र में अपने अस्तित्व को प्रमाणित कर रही है। एक युग था जब निश्चित आयु तक विवाह न होने पर नारी पर समाज की उंगलियाँ उठा करती थी, किन्तु अब विवाह अनिवार्य नही है। समाज में बहुत सारी कुमारिकायें हैं, जिन्होंने अपनी युवावस्था अविवाहित रहकर ही बिता ली है। अब ये मान्यता समाप्त हुई है कि स्त्री की जिन्दगी का दूसरा नाम शादी है। उषा प्रियम्वदा के उपन्यास "पचपन खम्भे लाल दीवारे" की सुषमा विवाह करके अपने परिवार को निराधार नही छोड़ना चाहती इसलिए वह कहती है–"जीवन में बहुत महत्वपूर्ण काम सिर्फ विवाह ही तो नही है और देशों में देखियें बिना शादी किये हुए औरत कैसे मजे से रहती है।"[2]

आज नारी का युग–बोध मात्र समर्पिता रहकर पति की इच्छाओं का पालन करना ही नही रहा। वैवाहिक जीवन की परिणति की ओर भी महिला लेखिकाओं का ध्यान गया है। वैवाहिक जीवन की सफलता तभी है जब स्त्री–पुरूष के हृदय में एक–दूसरे के प्रति यथार्थ प्यार हो, यथार्थ ललक हो यदि यह नहीं है तो पति–पत्नी का जीवन व्यर्थ सिद्ध होता है। पत्नी यदि बिना अपनी इच्छा के पति को अपना शरीर देती है तो वह एक सड़ान्ध का ही अनुभव करती

---

1 शशिप्रभा शास्त्री–क्योंकि, पृ0–33

2 उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्में लाल दीवारें, पृ0–120

है। "पतझड़ की आवाजें" में सुनीता के शब्दों में–"झूठें विवाह से तो ऊपरी सुख मिल ही जायेगें, मैं तुम्हें डिस्क्रेज नही करने वाली पर यह तो मानोगी कि बिना मर्जी के यौन–क्रिया में कितनी सड़ान्ध है।[1]

भारत में पारम्परिक विवाहों को आज भी सम्मान प्राप्त है किन्तु प्रेम विवाह भी अब अनहोनी नही रह गये है। लोगों की सामान्य मान्यता है कि अधिकांश प्रेम विवाह असफल होते हैं। इस सम्बन्ध में आज की नारी का अभिमत बदला है। 'पारू ने कहा था' उपन्यास में पारू की मम्मी कहती हैं–"प्रेम विवाह असफल होते हैं यह बात सम्बन्धियों के लिए मात्र सुनी सुनाई नही थी, आँखों देखा हाल था मैं उन्हें ये तर्क समझाने की स्थिति में नही थी कि विवाह होता है और समझदारी के अभाव में कोई भी विवाह असफल हो सकता है; केवल प्रेम विवाह ही नही।"[2] सम्प्रति पारम्परिक विवाह तथा आदर्श विवाह पर बहस छिड़ी हुई है 'क्योंकि' उपन्यास में शशिप्रभा शास्त्री ने आर्दश विवाह की चर्चा छेड़ी है– आदर्श विवाह का तो केवल नाम ही दिया जाता है शादी तो पारम्परिक ही होती है। आदर्श विवाह में भी वहीं सब किया जाता है जो पारम्परिक विवाह में। इस उपन्यास की पात्रा श्रीमती ध्यानी कहती हैं–"आदर्श शादी अच्छी होती है, आप जब भी करेंगी आदर्श शादी करेंगी, पर मैं एक बात पूछती हूँ कि आप आदर्श

---

1 निरूपमा सेवती–पतझड़ की आवाजें, पृ0 156
2 मणिका मोहनी–पारू ने कहा था, पृ0 62

शादी में क्या नही करेगी ? बारात नही ले जायेगी ? बारात ले जायेगी तो क्या बारातियों से उनके किराये वसूल करने लगेगी ? आखिर वे लोग या तो हमारे शोभा बढ़ाने के लिए ही जा रहे होगें, बहू के लिए कपड़े नही ले जायेगी आप ? इसका तो हमारे धर्मशास्त्र में भी विधान है,...हाँ और क्या आप बहू के लिए जेवर नही ले जायेगी आखिर ये भी शोभा और शगुन की चीजें हैं।"[1]

विवाह के सम्बन्ध में नारी का नजरिया बदला है वह लक्ष्य पर अपनी दृष्टि रखने लगी है न कि पद्धति पर। बल्कि कहीं-कहीं तो क्रांतिकारी कदम उठानें से नहीं चूकती। विवाह जैसे महत्वपूर्ण निर्णय को वह परम्पराओं अन्य के परामर्शो और दबावों से नही लेना चाहती "नावें" उपन्यास की विजय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहती है, वह कहती है-"विचारों में प्रौढ़ता, परिपक्वता और युवावस्था का उबाल दोनों मेरी जिन्दगी में एक साथ आये। अपनी सहेलियों से मैं प्रायः यही कहा करती थी कि मैं तुम लोगों की तरह दकियानूस ढंग की शादी नही करूंगी, अपने आप लड़का चुनूंगी और खुद अपने विवेक से सब कुछ करूंगी। किसी के द्वारा धकियाये जाकर या सलाह मशवरे से मैं इतना बड़ा कदम नही उठाऊंगी।"[2]

---

[1] शशिप्रभा शास्त्री-क्योंकि, पृ0 47

[2] शशिप्रभा शास्त्री-नावें, पृ0 43

विवाह के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण बहुत कठोर रहा है किन्तु इस सम्बन्ध में वर्तमान परिस्थितियों में समझौते के चिह्न दृष्टिगोचर हुए हैं। अन्तर्जातीय विवाह तक सम्भव हो गये है। 'श्मशान चम्पा' की नायिका अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में कहती है-"अपने समाज में यदि सुयोग्य पात्र नही जुड़ता तो दूसरे समाज को अपनाने में भला क्या दोष है।"[1] इसी उपन्यास की दो नारियां लक्ष्मी पंत और जूही मसूद अली व तनवीरवेग से अन्तर्धर्मीय विवाह करती हैं। पंकजा उपन्यास की नायिका पंकजा सोचती है-"हमारी ही सहपाठिनी ज्योत्स्ना शर्मा का विवाह अग्रवालों में हुआ है। लड़का आई0ए0एस0 था न, प्रभा गुप्ता का विवाह मेहरोत्रा से हुआ है। विरादरी के बन्धन तो छूट रहे हैं। मानव और अधिक देर तक इन कृत्रिम वर्ण व्यवस्था के बन्धनों में बँधा नही रह सकता है। वह उन्हें तोड़ने लगा है।[2] आज की नारी अन्तिम सांस तक वैवाहिक सम्बन्धों के निर्वाह के लिए विवश नही है। अनमेल विवाह की स्थिति में वह तलाक भी लेने में नहीं हिचकिचाती "उसका घर" उपन्यास की येलमा दमे से पीड़ित पति से विवाह विच्छेद करती है। विवाह विच्छेद के लिए वह अदालत तक जाना भी जरूरी नही समझती क्योंकि उसकी दृष्टि में-"यह तो दिल के सम्बन्ध होते हैं। पत्नी को भीख में मांगा हुआ अधिकार कभी सुख नहीं होता, रही अदालत जाने की बात तो

---

1 शिवानी-श्मशान चम्पा, पृ0 171

2 कंचनलता सब्बरवाल-पंकजा, पृ0 -134

पति–पत्नी में यदि दरार पड़ जाये तो दुनिया की कोई अदालत उसे नहीं जोड़ सकती।[1]

येलमा विवाह विच्छेद के बाद आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने के लिए नौकरी करने लगती है। पुरानी स्मृतियों को भुलाने के लिए वह जगदलपुर छोड़ कर मद्रास नौकरी करने चली जाती है।

प्राचीनकाल से ही यद्यपि पुनर्विवाह की प्रथा को मान्यता प्राप्त है किन्तु कुछ विशेष परिरिथतियों में पुनर्विवाह मान्य होते थे, इसलिए पुनर्विवाह को भारतीय परिवेश में सहज घटना नही माना जा सकता। आज की नारी का दृष्टिकोण परम्पराओं, रीति–रिवाजों की तुलना में सफलता और संतुष्टि से जीवन जीने में अधिक विश्वास करता है। महिला उपन्यासकारों ने पुनर्विवाह तथा विवाहेत्तर सम्बन्धों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। 'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास में मृदुला गर्ग ने मनीषा का चित्रण किया है जो अकेलेपन से ऊबकर अपने पति जितेन से सम्बन्ध विच्छेद कर अर्थशास्त्र के प्रोफेसर मधुकर से पुनर्विवाह करने के बाद में वह अचानक जितेन के मिलने पर एक होटल में उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में जरा भी नही हिचकिचाती। मधुकर की पत्नी होकरके भी उसे जितेन के प्रति साहचर्य की इच्छा रहती है। प्रयत्न करने पर भी अपने मन की खिन्नता को भर नही पाती। तब वह लेखन से जुड़ती है और मन उमड़ती–घुमड़ती भावनाओं को अभिव्यक्ति देना चाहती है। मधुकर मनीषा

[1] मेहरून्निशा परवेज–उसका घर, पृ0–05

की लेखन कला को महत्व नही देता तब वह कहती है–"तुम मुझे लेखिका मानो न मानो मधुकर, कुछ फर्क नही पड़ता, मैं लिखूंगी अवश्य लिखूंगी उसमें और कोई नतीजा न भी निकले कम से कम मुझे तसल्ली होगी जो कुछ मैं कर सकती थी मैने किया।"[1]

पुरूष के व्यभिचारी व्यवहार को किसी युग की नारी सहन नही कर पाती थी, किन्तु इसकी प्रतिक्रिया में उसका विद्रोह आत्म–घुटन, कुण्ठा अथवा आत्महत्या में परिणत हो जाता था। आज की नारी इस समस्या पर आत्मपीड़न के स्थान पर वेहद विद्रोही तेवर अख्तियार कर रही हैं। "पतझड़ की आवाजें" उपन्यास में निरूपमा सेवती ने अनुपमा के माध्यम से इसे दर्शाया है–"सुनीला ने विजय को पुरूष वेश्या तक कहा है, पर ऐसा कहने के बाद खुद भी कितनी बेचैन रही होगी, इस बेचैनी को अपनी कुण्ठा में पाला है। यह लिख–लिख कर कि अच्छा है पुरूष भी वेश्या बनें। यह भी अपमान के उस चरम को पायें, लड़कियों को भी अपनी तृप्ति मिल सके, कब खुलेगें पुरूष वेश्याओं के बाजार।"[2]

एक अविवाहिता का माँ बन जाना नारी उपन्यासकारों की एक नयी अनुभूति है। विवाह और मातृत्व का समन्वय स्त्री के लिए सामाजिक रीतियों–नीतियों के अनुसार सुविचारित तथ्य रहा हैं। पुनः नारी की सुरक्षा के लिए भी मातृत्व का सम्बन्ध विवाह से जोड़ा गया है। चूँकि शिशु कभी भी पुरूष के

[1] मुदुला गर्ग–उसके हिस्से की धूप, पु0 175
[2] निरूपमा सेवती–पंतझड़ की आवाजे, पृ0 109

शरीर का हिस्सा नही बनता इसलिए वह कभी भी उससे पीछा छुड़ा सकता है। इस कारण समाज में कुवांरे मातृत्व की कल्पना नही की गयी है। आज स्त्री स्वतन्त्र है, अतः यदि वह किसी पुरूष से बिना वैवाहिक सूत्रों में बधें ही मातृत्व प्राप्त कर लेती है, तो आज के समाज में विवाह के समानान्तर ही कोई प्रथा क्यों नही निकाली जाती ?

यह प्रश्न आज की लेखिकाओं के समक्ष रह–रह कर उभर रहा है। 'दहकन के पार' की तुषार अविवाहिता माँ बनने वाली हैं। वह कल्पना करती है समाज ने ऐसी व्यवस्था की–"जहां कोई स्त्री माँ बने तो संसार की इतनी बड़ी अनुभूति उससे छिने नही, वैवाहिक समझौते का लेबल भर न होने से क्या किसी जीवन्त सच को या कि सहज अस्तित्व से आये किसी जीवन्त बच्चे को नाजायज कहा जा सकता है? इतनी बेतुकी बात, इतने ज्यादा वैज्ञानिक युग की इतनी बड़ी अवैज्ञानिक बात"।[1]

तुषार अविवाहित रहते हुए ही बच्चे को जन्म देती है। इसी प्रकार शशि प्रभा शास्त्री के उपन्यास "नावें" में भी कुवांरी माँ का चित्रांकन किया गया है। मालती अपने गर्भ में सोम जी की संतान धारण किये हुए है। सोम जी उसे अनेक प्रकार से गर्भपात के लिए समझाते हैं किन्तु मालती कहती है–"मैं इस गर्भ

---

[1] निरूपमा सेवती–दहकन के पार, पृ0–78

को नष्ट होने देती, सबकी आँखों में धूल झोकती और अपनी आत्मा को धीरे–धीरे मरने देती।"[1]

भूमण्डलीय प्रभाव से आयी उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारतीय नारी में भी दैहिक परितृप्ति की वासनाओं को जन्म दिया है। नैतिक, अनैतिक मान्यताओं से अलग हटकर यौन तृप्ति की लालसाओं को उचित ठहराने का युगबोध भले ही सीमित हो किन्तु उसका अस्तित्व है। नारी उपन्यासकारों ने इस तथ्य पर भी अपनी लेखनी चलाई है। "अपनी–अपनी यात्रा" की एक पात्रा मधुर है वह कालेज में लेक्चरर है। वह स्वतन्त्र विचारों की है। उसके विचारों को व्यक्त करती हुई सुलेखा कहती है–"उसके जीवन में पुरूष का स्थान शरीर की आवश्यकताओं का मात्र एक इन्तजाम था वह अपने सारे रोमांशों के किस्से ऐसी आसानी से सुनाती थी, जैसे किसी नई पुडिंग की रईसगी बता रही हो। वह सैक्स को जीवन की बहुत ही साधारण भावना मानती थी। वह कहा करती थी कि जीवन में जब वह क्षण आता है, तो पशु–पक्षी, वृक्ष या मनुष्य में कोई अन्तर नही रह जाता। उसके लिए टूथ ब्रश लेना या सम्भोग करना एक जैसा था, क्या हुआ ? नहा धो लो, साबुन मल कर साफ कर लो, तौलिये से पोछो, बस सब कुछ धुल पुंछ जाता है।[2]

---

[1] शशिप्रभा शास्त्री–नावें, पृ0 23

[2] कुसुम अंसल–अपनी–अपनी यात्रा, पृ0 105

साम्प्रतिक काल प्रवाह भारत की सनातन संस्कृति को भी नया रूप प्रदान कर रहा है। पुनरूत्थानवादी मूल्यों से जुड़े लोग इसे जहां सांस्कृतिक विकृति मान रहे हैं, वही आधुनिकता से प्रभावित भारतीय ऐसी संस्कृति पर नाज कर रहा है–"जहां बुढ्ढे ससुर धर्म भवन में स्त्रियों को आदर्श भारतीय स्त्री बने रहने का भाषण देकर आते है और घर में बहुओं की अधनंगी करने वाली पोशाकों की तारीफ करने वाली निगांहों से उन्हें चाव से निहारते हैं। जहां एक ओर टी0वी0 पर दिखाई देने वाले सैक्स दृश्यों को सारा परिवार एक साथ बैठकर देखता है और कुवांरी लड़कियों को घर में उपन्यास पढ़ने की इजाजत तक नही होती है"।[1]

अब हिन्दू ही नही सभी धर्मो की संस्कृति में कट्टरता घटी है। पूर्व के जीवन में पश्चिम का रंग घुला है। मंजुल भगत के "खातुल" उपन्यास में इस प्रकार का एक परिदृश्य द्रष्टव्य है–"शेख अकेले मेज पर बैठे खा रहे थे पास की दूसरी मेज पर उनकी हरम–वेगमात सभी स्कर्ट ब्लाउज पहने पर सिर को स्कार्फ से ढ़के, उनसे अलग बैठकर भोजन ग्रहण कर रही थी"।[2]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बदलते परिवेश के परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता, स्वतन्त्रता, परिवर्तन के प्रति स्वीकृति, वैश्विक संस्कृति के मनोवांछित तत्वों का स्वागत, काम चेतना के सम्बन्ध में भोगवादी और वैज्ञानिक अवधारणा के प्रति सहमति, युगानकूल परिशोध्यमान जीवन मूल्यों के प्रति स्वीकृति, अनुचित के प्रति विद्रोह वृत्ति, किसी भी क्षेत्र की कट्टरता का शिथिलीकरण नारी युग बोध के अन्तर्निगूढ़ तत्व हैं।

---

[1] निरूपमा सेवती–दहकन के पार, पृ0 82

[2] मंजुल भगत–खातुल, पृ0 37

तृतीय अध्याय

(क) समकालीन नारी उपन्यासकार : एक संदर्भ दृष्टि :

वैदिककाल से ही मन्त्रदृष्टा नारियों का उल्लेख मिलता है। विदेह की धर्म सभा में दिशा प्रमुख आचार्य तथा उद्भट् तत्ववेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करके विदुषी गार्गी ने नारी की सारस्वत चेतना का प्रमाण प्रस्तुत किया था। विविध परतन्त्रताओं तथा वर्जनाओं में दबी सिकुड़ी नारी जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय देती रहती है। मानव जीवन का कदाचित ही कोई क्षेत्र बचा हो, जिसमें नारी ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका न प्रतिपादित की हो। समकालीन परिवर्तित युग के विविध क्षेत्रों में नारी अपनी अनिवार्य उपस्थिति दर्ज करवा चुकी है। राजनैतिक, प्रशासनिक, लेखकीय, समाजिक तथा गार्हस्थिक आदि क्षेत्रों में नारियों के कृतित्व मील के पत्थर सिद्ध हो रहे हैं। दूरसंचार, अन्तर्राष्ट्रीय पठन–पाठन, वैश्विक संस्कृति के विकास, वैज्ञानिक आलोक के कारण मूढ़ता से मुक्ति, दूरदर्शन, रेडियो, अन्तर्राष्ट्रीय पत्र–पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों के कारण सामाजिक मनोदशा में परिवर्तन के साथ नारी में भी दशा और दिशा की दृष्टि से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं।

कथा लेखन के क्षेत्र में महिलाओं की संख्या दिनानुदिन बढ़ती जा रही है। विकास की परम्पराओं को विकासक्रम की विविध अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। जो देश और समाज आज विकास के सर्वोच्च शिखर पर हैं, वे कभी विकास की पहली सीढ़ी पर खड़े रहे होगें। लोकतन्त्र की स्थापना के साथ ही वास्तविक जनतन्त्र कल्याणकारी राज्य की कल्पना की जाने लगी, जिसमें प्रत्येक

नागरिक को जिन्दगी की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की गारन्टी हो। समाज के सर्वांगीण विकास के सपने देखे जाने लगे। नारी समकालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अपनी दूसरे दर्जे की नागरिकता से परिचित हो चुकी है। अपने शोषण और उत्पीड़न की परिस्थितियों के प्रति उसमें जागरूक संवेदनायें जाग्रत हुई हैं। अपनी नारकीय परिस्थितियों के कारक तत्वों को उसने चिह्नित किया है और यह प्रश्न उसे सदा शालता रहा है कि एक माँ, बहन, पत्नी, पुत्री अथवा सामाजिक तन्त्र के किसी भी रूप में उसने स्वयं को मिटा कर अपनी बलिदानी भूमिका निभाने के बावजूद उसे शोषण और अपमान के योग्य क्यों समझा गया? नारी उपन्यासकारों ने अपने लेखनी के माध्यम से अपनी कृतियों में अस्तित्व चेतस् नारी की सोच और संवेदना को रेखांकित किया है।

(१) मृदुला गर्ग :

25 अक्टूबर, 1938 में कलकत्ता में जन्मी मृदुला गर्ग समकालीन चर्चित उपन्यासकार हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करके तीन–चार वर्षों तक अध्यापन करने के बाद 1970 ई0 से निरन्तर लेखनकार्य सम्पन्न कर रही हैं। सन् 1971 में "कहानी" मासिक पत्रिका द्वारा उनकी कहानी "कितनी कैंदें" पुरस्कृत की गई, "उसके हिस्से की धूप", "वंशज", "चित्तकोबरा", "अनित्य", "मैं और मैं", उनके प्रकाशित उपन्यास हैं। "कितनी कैंदें", "टुकड़ा–टुकड़ा आदमी", "डैफोडिल जल रहे हैं" 'ग्लेशियर से,' "उर्फ सैम' उनकी चर्चित प्रकाशित कहानियाँ हैं तथा "एक और अजनबी" उनका प्रकाशित नाटक है।

अपनी कहानियों तथा उपन्यासों के माध्यम से मृदुला गर्ग समकालीन नारी और उसके परिवेश के विविध आयाम प्रस्तुत करने में अपनी 'बोल्डनेस' के कारण बहस का विषय रही हैं। उनकी व्यक्तित्व की परछाइयाँ बहुधा उनके कथा साहित्य के प्रधान नारी चरित्रों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसे नारी पात्र न सहानुभूति चाहते हैं,न ही अवांछित रूप से बांटते हैं, उनमें स्वाभिमान कूट–कूट कर भरा है। वे सत्य के एक अंश को लेकर उसे 'ग्लोरीफाई' नही करतीं, प्रत्युत उसे सम्पूर्णता में लेती हैं। जीवन में वे दुराव, छिपाव जानती नहीं और अपने लेखन को भी उन्होंने उसी के अनुरूप ढ़ाला है। उनकी जैविक तृष्णाओं की सहज स्पष्ट अभिव्यक्ति भी स्वयं के प्रति बोला गया सच है। एक सूक्ष्म पारदर्शी वेदना धारा उनके लेखन और व्यक्तित्व में बहती हुई दिखाई पड़ती

है। वह कभी हँसी के नीचे झलकती है तो कभी शुद्ध त्रासदी बनकर उभरती है। यह मृदुला गर्ग का ही साहस है कि जनवरी 1971 में प्रकाशित 'कहानी' मासिक की प्रथम पुरस्कार प्राप्त कहानी –'कितनी कैदें' की नायिका स्वयं पर हुए बलात्कार का इतनी सहजता और स्पष्टता से उल्लेख कर सकी–"जब तक मैं कुछ समझती वह मुझमें प्रविष्ट कर चुका था"।[1]

1977 में प्रकाशित 'उसके हिस्से की धूप' में एक त्रिकोणात्मक प्रेम-कहानी है। इसकी नायिका मनीषा प्रारम्भिक जीवन उद्योगपति जितेन से विवाह कर व्यतीत करती है, जितेन के साथ कई वर्षों तक लगातार रहने से वह एकरसता का अनुभव करके स्वयं को बोर महसूस करती है। इसी समय उसके सम्पर्क में अर्थशास्त्र का प्रोफेशर मधुकर आता है। मधुकर की जिन्दादिली से वह इतनी प्रभावित होती है कि जितेन से तलाक लेकर मधुकर से पुनर्विवाह कर लेती है। एक बार नैनीताल में उसकी भेंट जितेन से होती है। मनीषा स्वयं को प्रत्येक वर्जना से मुक्त समझती है और होटल में ठहरे जितेन के कमरे में जाकर यौन तृप्ति करती है। इस उपन्यास की आधारशिला पर छद्म नारी स्वतन्त्रता का मनोवैज्ञानिक दंश मौजूद है। नारी का अवचेतन विद्रोही बन कर पुरुष प्रधान समाज की लक्ष्मण रेखाओं का उल्लंघन करता है। परम्परागत भारतीय समाज में स्त्री–पुरूष सम्बन्धों के बीच नारी स्वातन्त्र्य का सवाल सदा ही अनदेखा किया जाता रहा है और यह मृदुला गर्ग का उपन्यास परम्परागत ही नही, बल्कि आधुनिकता के घिसेपिटे वैचारिक चौखटे से भी बाहर निकलकर यह सवाल उठाता है कि स्त्री–पुरूष सम्बन्धों का आधार क्या है ?

---

[1] मृदुला गर्ग–कहानी मासिक पत्रिका, जनवरी 1971 में प्रकाशित कितनी कैंदे, पृ0–6

(२) उषा प्रियम्बदा :

हिन्दी की विशिष्ट कथाकार उषा प्रियम्बदा ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में पी–एच0डी0 की उपाधि प्राप्त की। तीन साल दिल्ली के लेडी श्रीराम कालेज और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्राध्यापन के बाद फुलब्राइट स्कालरशिप पर अमेरिका प्रस्थान किया, जहाँ ब्लूमिंगटन, इण्डियाना, में दो वर्ष पोस्ट–डॉक्टरल स्टडी की। आजकल वे विस्कांसिन विश्वविद्यालय मैडीसन में दक्षिण एशियाई विभाग में प्रोफेसर हैं।

उषा प्रियम्वदा के कथा साहित्य में शहरी परिवारों के बड़े ही अनुभूति प्रवण चित्र हैं और आधुनिक जीवन की उदासी, अकेलेपन, ऊब आदि का अंकन करने में उन्होने अत्यन्त गहरे यथार्थ बोध का परिचय दिया है। उन्होंने आज के नारी जीवन की विसंगतियों को सोचा समझा है और अपनी कृतियों में उन्हें आत्मसात किया है। परिवर्तित संदर्भो, नई परिस्थितियों तथा उलझनपूर्ण मनःस्थितियों में नारी के फिट होने की प्रवृत्ति और आधुनिकता तथा भारतीय संस्कारों के मध्य सूक्ष्म द्वंद्व को उन्होनें सफलता पूर्वक चित्रित किया है।[1]

यद्यपि लेखिका अस्तित्ववादी जीवन दर्शन से पूर्ण प्रभावित है जिसके फलस्वरूप उसके पात्रों में अनास्था, भय और संत्रास बना रहता है, पात्रों में परिस्थितियों से उबरने का साहस भी नहीं है, फिर भी नारी की दुविधा और

---

[1] हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ–वार्ष्णेय, पृ0–124

उसकी छटपटाहट का ऐसा सफल चित्रांकन अत्यन्त विरल है। ''रूकोगी नही राधिका'' 1967 तथा ''पचपन खम्भें लाल दीवारें'' 1979 में प्रकाशित उनके प्रख्यात उपन्यास हैं तथा ''जिन्दगी और गुलाब के फूल'', ''एक कोई दूसरा'', ''मेरी प्रिय कहानियाँ'' इनकी प्रख्यात कहानियाँ हैं। 'मीराबाई,' 'सूरदास' उनकी अंग्रेजी में लिखित कृतियां है, उन्होंने अपनी हिन्दी कहानियों को स्वयं अंग्रेंजी में अनूदित किया है।

(३) सुधा गोयल :

बुलन्दशहर के अनूप शहर तहशील में एक वैश्य परिवार में उत्पन्न सुधा गोयल बचपन से ही परिवेश के प्रति जागरूक थीं। लड़की और लड़के के भेद के आधार पर शिशु के पालन–पोषण से लेकर जीवन पर्यन्त स्त्री–पुरूष भेद पर आधारित सामाजिक नियमों के दुहरे मापदण्ड उन्हें सदैव खटकते रहे। नारी पर किसी भी कालखण्ड का अत्याचार उनके भीतर की संवेदनशील नारी अस्मिता को कलम पकड़ने के लिए विवश कर देता हैं। पौराणिक काल से लेकर समकालीन युग चेतना में अनुस्यूत नारी निर्यातन के अनन्त परिदृश्यों में विवश, व्यथित, हताश तथा छली गयी नारी की तस्वीरों से सुधा गोयल का रचना संसार भरा पड़ा है। सुधा गोयल बहुधा छद्म आदर्शों की केंचुल उतार कर यथार्थ का उद्घाटन करती हैं–''द्वैत की गलियों में विचरने वाला प्रेम अद्वैत कैसे हो सकता है''।[1] इनके कई कहानी संग्रह तथा लेख पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके प्रमुख प्रकाशित उपन्यास :–मृण्मयी, भूमिजा, अलाव, पटाक्षेप आदि है।

---

[1] सुधा गोयल मृण्मयी की भूमिका से

(४) मन्नू भण्डारी :

मन्नू भण्डारी का जन्म 3 अप्रैल 1931 में मध्य प्रदेश के भानपुरा में हुआ था। हिन्दी पारिभाषिक कोर्स के आदि निर्माता श्री सुख सम्पत राय भण्डारी की सबसे छोटी पुत्री मन्नू भण्डारी को लेखन संस्कार पैतृक दाय के रूप में प्राप्त हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उन्होंने स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। कहानीकार तथा समीक्षक राजेन्द्र यादव से विवाह के उपरान्त उनको पूर्णरूप से साहित्यिक वातावरण प्राप्त हो गया। साहित्य की कथा विधाओं-"कहानी, उपन्यास, नाटक तथा बाल साहित्य में इनका सृजनशील कथात्मक दृष्टिकोण अति चर्चित स्तर को छू गया। मन्नू भण्डारी का लेखकीय व्यक्तित्व किसी विधा में सिमटने सिकुड़ने, गहराने के स्थान पर विस्तृत, व्यापक होता गया, उसके आयाम खुलते जा रहे हैं"।[1]

सामान्यतः 1950 ई0 के आसपास इन्होंने लिखना आरम्भ किया था, किन्तु 1957 में इनकी प्रथम कहानी संग्रह – 'मैं हार गयी' प्रकाशित हुआ। यहीं से कहानी साहित्य में मन्नू भण्डारी का अवतरण हुआ। इसके बाद 1978–79 तक यानी कुल तीन दशकों की अवधि में उनके–"तीन निगाहों की एक तस्वीर", "यही सच है", "एक प्लेट शैलाब", "श्रेष्ठ कहानियाँ", "मेरी प्रिय कहानियाँ" तथा "त्रिशंकु" आदि सात कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अविस्मरणीय कथा

---

[1] त्रिसंकु–मन्नू भण्डारी (मन्नू जी के तमाम रंग): कवि अजीत कुमार से मन्नू भण्डारी की एक अन्तरंग बातचीत, पृ0 11

अनुभव और गहरी दृष्टि के कारण उनकी कहानियाँ न केवल बार–बार पढ़ी जाती हैं, बल्कि इन विशेषताओं के फलस्वरूप फिल्माई जा रही है "यही सच है" पर बनी "रजनी गंधा" तथा त्रिशंकु पर "जीना यहां" इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। "महाभोज", "आपका बंटी" तथा "स्वामी" इनके प्रख्यात उपन्यास हैं, जिनमें कथ्य की अनेकार्थी गहराई और जिन्दगी के विविध क्षेत्रों को समेट सकने की संवेदना उन्हें अपने में ही डूबे या फार्मूलाबद्ध नारी लेखिकाओं की टीम से अलग और अकेला होने का गौरव देते हैं। इसके अतिरिक्त "बिना दीवारों के घर" शीर्षक नाट्यकृति और "आँखों देखा झूठ" बाल कहानियां तथा 'कलवा किशोर'(उपन्यास) आदि कृतियों का भी उल्लेखनीय स्थान है।

राजेन्द्र यादव के साथ उनका "एक इंच मुस्कान" उपन्यास भी विशेष चर्चित रहा है। वस्तुतः इन कृतियों के पार्श्व में–"रूढ़ि-विद्रोही कथानकों, भाव धरातलों का चयन, स्वानुभूति की प्रमाणिक सहजता आदि मन्नू भण्डारी की विशेषतायें ही मुख्य रूप से कार्यरत रही हैं। तात्पर्य यह है कि नारी अस्तित्व के परिवारिक और सामाजिक पक्ष के प्रति मन्नू जी पूर्ण सजग है"।[1]

[1] नये कहानीकार सम्पादक राजेन्द्र यादव प्रमुख स्वर शीर्षक लेख, पृ0–7

(५) कृष्णा सोवती :

कृष्णा सोवती ने अपने कथा लेखन में जिस तन्मयता का परिचय दिया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका एक–एक शब्द, वाक्य हफ्तों के परिश्रम से बना है। डार से बिछुड़ी (1958) से उनकी औपन्यासिक यात्रा प्रारम्भ हुई थी। मित्रों मरजानी (1969), सूरजमुखी अँधेरे के (1972) से गुजरती हुई, यारों के यार (1976) तथा तिन पहाड़ (1976) में लगभग समाप्त हो जाती है। कृष्णा सोवती की कथा यात्रा से गुजरते हुए ऐसा लगता है कि उन्होंने अलग–अलग समय में अलग–अलग रचनायें नहीं की, बल्कि एक ही रचना के विभिन्न अध्याय लिखे हैं। स्थान, काल परिवेश और नाम बदल कर उनकी रचना धर्मिता मानो एक ही कथ्य को विविध उपक्रमों से अभिव्यक्ति देने के लिए छटपटा रही हो। अपने जीवन को उलझाते–सुलझाते, बढ़ते–बोलते उनके पात्रों के लिए सामाजिक मान्यतायें, श्लील–अश्लील, नैतिक–अनैतिक, कहीं कुछ रह ही नहीं गया। उनके पात्रों को न जीविका की चिन्ता है, न समय की, न समाज की।

(६) ममता कालिया :

ममता कालिया का जन्म 2 नवम्बर 1940को वृन्दावन में हुआ था। आपकी शिक्षा दिल्ली, मुम्बई, नागपुर, इन्दौर और पुणे में हुई थी। आप पिछले 24 वर्षों से एक डिग्री कालेज में प्राचार्या हैं। आपकी प्रमुख पुस्तकें है –

उपन्यास :-

बेघर – 1971

नरक दर नरक – 1975

प्रेम कहानी – 1980

लड़कियाँ – 1984

एक पत्नी के नोट्स – 1995

कहानी :-

छुटकारा – 1970

सीट नंम्बर छः – 1975

एक अदद औरत – 1976

प्रतिदिन – 1983

उसका यौवन – 1985

जाँच अभी जारी है – 1989

चर्चित कहानियाँ – 1995

इसके अलावा अनेक सम्पादित, अनूदित पुस्तकें दो कविता संग्रह अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हैं।

ममता कालिया का लेखन विशेष रूप से भारतीय नारी के परिवेश के इर्द–गिर्द घूमता है। वे नारी की घुटती मानसिकता से कुछ प्रश्नों को उठाती हैं एवं तथ्यों का पोस्टमार्टम-सा करती हुई, उनकी यथार्थता को बीन–बीनकर रखती जाती हैं। आज के समाज के मानव में कुवाँरेपन की धारणा अथवा पति–पत्नी के विभिन्न दिशाओं के चलने के कारण गार्हस्थ्य जीवन की अवधारणा ऐसे ही जीवन्त तथ्य हैं, जो ममता कालिया की कथाओं को गति देते हैं। अब तक प्रकाशित ममता कालिया के दोनों उपन्यास–बेघर (1971) तथा नरक दर नरक (1975), पति–पत्नी के प्रेम हीन सम्बन्धों पर आधारित हैं।

(७) श्रीमती गौरा पन्त शिवानी :

श्रीमती गौरापन्त शिवानी का जन्म सन् 1923 में राजकोट में हुआ था। गुरूदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर के सान्निध्य में कई वर्ष शान्ति निकेतन में शिक्षा पायी अतः टैगोर के लेखन संस्कार का प्रभाव शिवानी की रचनाओं में परिलक्षित होता है। शिवानी ने मुख्यतः कथा साहित्य की रचना की और यह सिद्ध कर दिया कि साहित्य, पाठक से कटा हुआ या उसकी पकड़ से बाहर नहीं है, उसे पूरी गरिमा के साथ लोकप्रिय बनाया जा सकता है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी कथात्मक प्रवाह और चरित्रों की अंतरंग प्रस्तुति के कारण अत्यन्त सहज और बोधगम्य है। शिवानी के संस्मरण, रेखाचित्र और यात्रा वृतान्त भी कथामय है। सम्प्रति शिवानी समकालीन समाज और राजनीति पर भी सशक्त कथात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कर रहीं हैं। शिवानी को उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए भारत सरकार ने पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत किया है। शिवानी का उपन्यास मायापुरी (1961), कृष्णकली (1969), विषकन्या (1970), श्मशान चम्पा (1972), चौदह फेरे (1972), गेंडा (1974), सुरंगमा (1978), भैरवी (1978), माणिक (1979) तथा कृष्णवेणी (1981) में प्रकाशित हुआ था।

(ख) नारी उपन्यासकारों का कथ्यात्मक समालोचन :

साम्प्रतिक संक्रान्ति काल तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ कि भारतीय समाज परिवर्तन को सहने लगा है, स्वीकार करने लगा है। जीवन पद्धतियों और जीवन मूल्यों में हुए परिवर्तन यदि एक सदी पूर्व के भारत में लागू करने की चेष्टा की जाती तो इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है कि अस्वीकृति और विद्रोह के भयानक विस्फोट होते। सामाजिक विसंगतियों, वर्जनाओं, कुण्ठाओं, उत्पीड़नाओं, दासताओं तथा विविध शोषणों की शिकार नारी चेतना ने भारतीय सामाजिक इतिहास में सम्भवतः पहली बार अपनी अस्मिता को पहचान कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना का इतने बड़े पैमाने पर प्रयास किया। आधुनिकता से जुड़ी आज की शिक्षित नारी ने रूढ़ियों, आवांछित परम्पराओं, प्रतिगामी रीति-रिवाजों को त्याग सकने योग्य मनोबल प्राप्त कर लिया है। सतीत्व के पाषाण कारागारों को नकार कर स्वस्थ दाम्पत्य की मनोभूमि सृजित की गयी है। अनुचित के प्रति विद्रोह को आधुनिक नारी ने स्वीकार कर लिया है। साम्प्रदायिकता के ताने-बाने में उलझाव की सम्भावना के प्रति आज की नारी में जागरूक समझ पैदा हुई। अपने प्रति समाज के दोहरे मापदण्डों के प्रति भी आधुनिक नारी सावधान है। ज्ञानोदय पत्रिका के किसी विशेषांक में एक बार कुछ चित्रों में एक आकृति सिर से पैर तक आवरण डाले खड़ी थी। दूसरे में वह आकृति नारी रूप में स्पष्ट की गयी थी, जिसका मुँह व हाथ-पैर खुले थे। तीसरे चित्र में ब्लाउज की बांह कुहनियों से

ऊपर उठ गयी थी, पल्ला सिर से हट गया था। चौथें में स्लीवलेस ब्लाउज के साथ मिडी शोभायमान थी। पांचवें में ब्रा और बिकनी थी और छठवें में नारी आकृति तो नही थी एक प्रश्न वाचक चिह्न लगा हुआ था। निःसदेह उक्त चित्र में नारी के परिधान के माध्यम से उसकी मुक्ति-यात्रा पर अश्लील कटाक्ष किया गया था।और किसी युग में नारी इस कटाक्ष को चुपचाप सहन कर लेती, किन्तु आज की नारी ने इसके विरूद्ध प्रदर्शनों तथा पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से एक मोर्चा ही खोल दिया था। ज्ञानोदय कार्यालय में प्रतिक्रिया स्वरूप महिलाओं के बहुत पत्र पहुँचे होंगें, जिनमें एक पत्र ही प्रकाशित हुआ था। जिसका कुछ अंश इस प्रकार है:–

"नारी की जिन्दगी की जाँच करने के अलावा क्या पुरूषों के पास कोई काम नही रह गया है, नारी सड़क पर कैसी है, नारी किचिन में कैसी है, नारी बैडरूम में कैसी है, यहाँ तक कि नारी अपने कपड़ों के भीतर कैसी है, इसकी जासूसी करने के स्थान पर ऐसी विकृति करने वाले लोग यह जानने की कोशिश क्यों नहीं करते है कि वह माँ के रूप में कैसी है, (अपनी माँ को तो उसने बहुत नजदीकी से देखा होगा) तो कोई बात बनती"[1]

---

[1] राधिका सोनटक्के–ज्ञानोदय, वर्ष 1979 अप्रैल, पृ0 3

दाम्पत्य जीवन की स्थिति जो स्वतंत्रता पूर्व थी, आज उसमें अनेक परिवर्तन आ चुके है। सामाजिक जीवन की भी यही स्थिति है। धर्म अपना आडम्बर खो चुका है, बौद्धिकता बढ़ गयी है। भावनायें ढकती जा रही हैं। भाव चेतना, सौन्दर्य बोध और बौद्धिक संघर्ष अपेक्षाकृत गहन होते जा रहे हैं। जीवन के खण्ड सत्य, अनुभूति की तीव्रता और विविधता के विपुल आयाम अगणित स्तरों में बिखरे पड़े हैं। आज के जीवन के असंख्य परस्पर विरोधी तत्व,असंगतियां और उलझाव चतुर्दिक बिखरे पड़े हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि आज के उपन्यासों में जीवन का क्षितिजस्पर्शी विस्तार है। इस विस्तार के कई रूप स्तर और आयाम हैं। इसमें मनुष्य के टूटने और बनने की बहुमुखी गाथायें है। बाहरी जीवन के स्वरूप के साथ ही अन्तर जीवन के सत्य को समकालीन नारी उपन्यासकारों ने चीन्हनें की चेष्टा की है। सामाजिक, पारिवारिक तथा आन्तरिक जीवन के अनेक स्तर उद्घाटित हुए हैं। जीवन के उतार–चढ़ाव के अनेक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। अनेक उपन्यासों में युग के सामाजिक-राजनीतिक जीवन के मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि है। वैयक्तिक जीवन का भी संवेदनशील और आत्मीय चित्रण हुआ है तथा परिवार और उसके विघटन की पृष्ठभूमि में सहज मानव आचरण और उसकी विडम्बना को भी उद्घाटित किया गया है। स्वातन्त्र्योत्तरकाल की नारी उपन्यासकारों ने अपने अनुभवों के आधार पर आज की नारी की सामाजिक नियति और मनोदशा को गम्भीरता से उत्कीर्ण किया है। ये नारी उपन्यासकार न तो नारी को महिमामण्डित करती हैं और न उसके दुःख दर्द को बढ़ाचढ़ा कर पेश करती हैं, बल्कि नारी जीवन से जुड़े विविध सत्यों को अभिव्यक्त करने की ईमानदार

चेष्टा करती है। स्त्री–पुरूष सम्बन्ध सामाजिक जीवन की आधारशिला है। विवाह के संदर्भ में बदलती परिस्थितियों और दृष्टिकोणों का चित्रण नारी उपन्यासकारों की कृतियों में सहज ही देखा जा सकता है। अधिक आयु की अविवाहित तरूणियों की चर्चा, विवाह पूर्व गर्भधारण की बात तथा दहेज की कुप्रथा का मार्मिक प्रस्तुतीकरण भी आज के नारी उपन्यासों में विवक्षित है। आज विवाह को मात्र संयोग नही माना जाता और न विवाह को अनिवार्यता की संज्ञा प्राप्त है। इन उपन्यासों के कुछ पात्र तो वैवाहिक जीवन से असंतुष्टि के कारण विवाह प्रथा को ही अमान्य कर देना चाहते हैं। निरूपमा सेवती के उपन्यास 'पतझड़ की आवाजें' की सुनीला तो बिना मर्जी अपना जिस्म अपने पति को देने में भी एक सड़ाँध का अनुभव करती है। विवाह पूर्व लड़के और लड़की की सहमति भी आज अनिवार्य मानी गयी है और इस तथ्य को स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है कि बिना मर्जी के विवाह जीवन में एक घुटन और आडम्बर भर देता है। पति–पत्नी में शैक्षणिक असमानता को भी वैवाहिक जीवन की बाधा कहा गया है। बहुपत्नीत्व और अनमेल विवाह की प्रथा को प्रायः सभी उपन्यास लेखिकाओं ने हेय दृष्टि से देखा और उसकी दुःखद परिणतियां दर्शायी हैं। अन्तर्जातीय विवाह तो अनेक उपन्यास लेखिकाओं ने आदर की दृष्टि से देखा है, किन्तु निरूपमा सेवती की कृति 'दहकन के पार' के नायक असलम के समान कुछ ऐसे लोग भी है जो अन्तर्जातीय विवाह से इसलिए डरते हैं कि उन्हें पिता का धन नही मिल सकेगा। ऐसे विवाहों में वर पक्ष के सम्बन्धी पहले तो कुछ समय तक असन्तुष्ट रहते हैं, किन्तु यह भी देखा गया है कि वह दूसरीजाति से आयी बधू को अन्ततोगत्वा अपना ही लेते हैं। किन्तु

अनेक स्थलों पर ऐसे विवाह घोर अशान्ति को जन्म देते हैं। विवाह विच्छेद पश्चिम में भले ही बहुप्रचलित हो, किन्तु भारत की जलवायु इसके लिए अनुकूल नही पायी गयी है।

''आपका बंटी'' उपन्यास में शकुन और अजय के विवाह विच्छेद के पश्चात बालक बंटी की विसंगतियों को चित्रित कर एक प्रकार से इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। ''उसके हिस्से की धूप'' उपन्यास में तो जितेन और मनीषा के विवाह विच्छेद तथा मनीषा मधुकर से पुर्नविवाहोपरान्त भी मनीषा और जितेन का शारीरिक सम्बन्ध दिखाया गया है। पुर्नविवाह का अधिकांश उपन्यास लेखिकाओं ने समर्थन किया है। ''कोहरे'' उपन्यास की नायिका सिमी जब यह देखती है कि उसका पति इराघोष के प्रति आकर्षित है तो वह उससे सम्बन्ध विच्छेद कर अपने पूर्व प्रेमी प्रशांत से विवाह कर लेती है। ''आपका बंटी'' उपन्यास की शकुन अजय से सम्बन्ध विच्छेद करने के पश्चात अकेलेपन से बचने के पश्चात डॉ0 जोशी से पुनर्विवाह करती है, किन्तु यहां उसे मानसिक शान्ति नही मिलती। महिला उपन्यासकार दुहेजू वर के पक्ष में नही हैं। बिन्दू सिंहा के उपन्यास ''तुम सुन्दर हो'' की मानू दुहेजू वर से विवाह करने की अपेक्षा डॉ0 श्रीकांत के साथ अन्तर्जातीय विवाह कर लेना श्रेयकर समझती है। इसी तरह अधिकांश महिला लेखिकाओं के उपन्यास विधवा विवाह का तो समर्थन करते है किन्तु नारी शरीर के विक्रय को हेय दृष्टि से देखते हैं। ''बात एक औरत की'' उपन्यास में डॉ0 कृष्णा अग्निहोत्री ने बेटी के रूप में एक ऐसी नारी का चित्रण किया है जो पिता की

मृत्यु के पश्चात् घर का खर्च चलाने के लिए धनार्जन करती है किन्तु इस धनार्जन को उसकी अन्तरात्मा स्वीकार नहीं करती और वह एक टेलीफोन आपरेटर से विवाह कर देह व्यापार को त्याग देती है।

निरूपमा सेवती ने "पतझड़ की आवाजें" उपन्यास में तो वेश्या जीवन की प्रक्रिया स्वरूप सुनील से यहां तक कहलाया है कि यदि पुरूषों की वासना की शान्ति के लिए नारी वेश्यालय खुले हैं तो नारियों की वासनाओं की तृप्ति के लिए पुरूष वेश्यालय क्यों नही खुलते? नारी के विभिन्न संदर्भो को महिला उपन्यास लेखिकाओं ने देखा, परखा है और नारी के कुवाँरे मातृत्व तथा प्रेमी अथवा पति की हत्यारिणी के रूप में भी उसका चित्रांकन किया है।

प्रेम का एक ओर तो काम से अविछिन्न सम्बन्ध माना गया है तो दूसरी ओर उसका उन्नयन भक्ति की ऊँचाईयों तक किया गया है। प्रेम जीवन का सर्वश्रेष्ठ सुख माना गया है। जीवन यदि फूल है तो प्रेम उसके शहद के समान है। महिला लेखिकाओं ने बदलते संदर्भ में प्रेम के विविध रूपों, विविध रंगों तथा विविध ढंगों को रूपायित किया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि विभिन्न स्त्री व पुरूषों के साथ प्रेमानुभूतियाँ भी भिन्न होती हैं। प्रेम पात्र के बदलते ही मानव प्रेम की एकरसता समाप्त हो जाती है और नया अनुभव नवीन सुख की पुष्टि करने लगता है। यह उपन्यास यह भी दर्शाते है कि प्यार व्यक्ति से नहीं वैभव से किया जाता है। प्यार में वासना बढ़ती जा रही है। कहीं–कहीं प्रेम के क्षेत्र में उदारता के भी दर्शन होते है।

दूसरे के गर्भ को अपना नाम देने वाले पुरूष चरित्र भी सृजित हुए हैं। आज की नारी प्रेम के क्षेत्र में पूर्व युगीन नारी से कहीं आगे निकल चुकी है, वह प्रिय द्वारा उपेक्षित होकर आँसू नही बहाती प्रत्युत् किसी अन्य से प्रेम कर विश्वासघाती प्रेमी को ईंट का जबाब पत्थर से देती है। यौन सम्बन्धों के क्षेत्रों में भी आज की नारी पूर्व के बन्धनों को तोड़ चुकी है आज वह अपनी यौन अतृप्ति की बात पति से कहने में झिझकती नहीं। प्रेमी के प्रति शारीरिक समर्पण के पूर्व उसकी काम-क्षमता को भी आज की नारी जांचने लगी है। एक पुरूष दो नारियाँ अथवा एक नारी दो पुरूष के त्रिकोणों का आज बाहुल्य है और ऐसे त्रिकोणात्मक सम्बन्धों की परिणतियाँ सुखात्मक तथा दुखात्मक दोनों ही प्रकार की हैं। इस तरह प्रेम और उसके वैविध्य के सम्बन्ध में महिला उपन्यास लेखिकाओं ने कुछ अनोखे और महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन अपनी कृतियों में किया है। यह इन लेखिकाओं का अनुपम प्रदेय हैं।

धर्म को महिला उपन्यास लेखिकाओं ने पारम्परिक रूप में स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत् उन्होंने सामयिक स्थितियों जीवनानुभव तथा तर्क एवं परिवेश के माध्यम से उसे नया रूप देने का प्रयास किया है। मेहरून्निशा परवेज, निरूपमा सेवती एवं डॉ0 मिथिलेश मिश्र ने इस दिशा में विशेष चिन्तन मनन भी किया है। हम धर्म के संदर्भ में उनकी मान्यताओं एवं व्याख्याओं से चौंक सकते हैं, किन्तु यह नारी मन की दुर्बलता ही कही जायेगी कि धर्म की पाखण्डमयी उपस्थिति की निन्दा करने के बावजूद उसे जड़ से उखाड़ने में वह हिचकिचा जाता है। महिला

उपन्यासकारों ने ईश्वर के संदर्भ में भी अपनी कृतियों में अपने विचार व्यक्त किये हैं। कुसुम अंसल, निर्मला बाजपेयी, ममता कालिया, मेहरून्निशा परवेज आदि ऐसी ही लेखिकायें है। इनमें से कुछ लेखिकायें तो ईश्वर के अस्तित्व पर भी प्रश्न चिह्न लगाती है, किन्तु महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि जहाँ उनकी बौद्धिकता ईश्वरीय सत्ता को नकारती है वहीं उनकी भावुकता ईश्वरीय आस्था और विश्वास को उन्मूलित नही होने देती।

बदलते सामाजिक परिवेश में पण्डा पुरोहित तथा साधु–संतो के जीवन पर भी नारी उपन्यासकारों ने दृष्टि डाली है। बहुधा इनकी दृष्टि में यह वर्ग नये–नये हथकण्ड़ों से यजमानों को ठगने वाला है। शिवानी, मंजुल भगत, दिनेश नन्दिनी डालमियां, मेहरून्निशा परवेज आदि ने अपनी कृतियों में साधु–संतों एवं पण्डों–पुरोहितों की रूपाकृतियाँ उकेरी है।

अस्पृश्यता के सम्बन्ध में नारी उपन्यासकार उदार हैं।इन लेखिकाओं ने अनेक स्थलों पर अस्पृश्यता और जातिवाद पर प्रहार किये हैं। महात्मा गाँधी से लेकर अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व तक के राजनैतिक संदर्भ महिला उपन्यासकारों ने खण्ड–खण्ड रूप में ही सही किन्तु उन्हें चित्रांकित किया है। मृदुला गर्ग सदृश कुछ लेखिकाओं ने गाँधी नीति की कटु आलोचना की है उन्होंने स्पष्ट लिखा है –"भारतीय इतिहास भटक गया था और स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ रूग्ण हो गया था, भगत सिंह आतंकवादी नहीं क्रान्तिकारी थे, यदि वे कुछ वर्ष

और जीवित रहते तो भारत कुछ और वर्षों पूर्व स्वतन्त्र हो गया होता।"[1] आज के मंत्रियों के अनेक रूपों को भी महिला लेखिकाओं ने स्पष्ट किया है कि ये मंत्री एवं सांसद वाह्य रूप में अपनी जाति के हितैषी बनते हैं, किन्तु आन्तरिक रूप से उसकी उपेक्षा करते है। पुलिस अधिकारियों पर मंत्रियों एवं राजनीतिज्ञयों का दबाव बना हुआ है। पुलिस इनके संकेतों पर नाचती है। आज का तंत्र मुठ्ठी भर लोगों के हाथों में है। आम आदमी का कोई महत्व नही रह गया है। आज के संदर्भ में राजनीतिक प्रभाव से बने कृत्रिम परिवेश और राजनीतिक शक्तियों के खोखलेपन को आज की महिला लेखिकाओं ने अपना कथ्य बनाया है।

भारतीय संस्कृति की अपनी कुछ अलग विशेषतायें हैं। धर्म और संस्कृति को आत्मसात करने की प्रवृत्ति महिलाओं में विशेष होती है। यही कारण है कि महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के तत्व विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। भारतीय संस्कृति बड़ी लचीली है, युगानुरूप उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में ये परिवर्तन देखे जा सकते हैं। इन रचनाओं में पाप, पुण्य की भी व्याख्या परिस्थिति के अनुकूल की गयी है। आज के युग की नारी धर्मान्ध नही रही है। इन कृतियों के माध्यम से यहां तक कहा गया है कि प्रेम की पीड़ा में झुलसते दो प्रेमी यदि एक–दूसरे में समाकर पीड़ा मुक्त हो जाते हैं, तो उनका यह कार्य पाप की श्रेणी में नहीं आता। मेहरून्निशा परवेज ने तो यहां तक कहा है कि जो मन को प्रिय लगे वह पुण्य है जो अप्रिय लगे वह पाप है।

---

[1] डॉ0 शीलप्रभा वर्मा–महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ, पृ0–286 से उद्धृत

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समकालीन नारी उपन्यासकारों ने महत्वपूर्ण स्थापनायें की हैं। मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोवती, राजीसेठ, ममता कालिया, निरूपमा सेवती, कान्ता भारती आदि की कृतियों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों एवं तत्वों के आधार पर पात्रों की चारित्रिक सृष्टियाँ की गयी हैं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि उषा देवी मित्रा से प्रारम्भ होकर महिला उपन्यासकारों की यात्रा अद्यावधि पर्यन्त सृजन धर्मिता से जुड़ी हुई है। इन उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक संदर्भों के विविध आयाम और मानवीय जीवन से जुड़े विविध सवाल और उनके सम्भावित जबाब कथ्य बनकर नारी की लेखकीय सम्भावनाओं का पथप्रशस्त कर रहे हैं।

१.(क) उसके हिस्से की धूप-मृदुला गर्ग :

भारतीय समाज की पारम्परिकता नर–नारी सम्बन्धों के बीच अनेक सवालों और सीमा रेखाओं की मौजूदगी दर्ज करती रही है। नारी स्वतन्त्रता और नारी स्वच्छन्दता के बीच बारीक सीमा रेखा की पहचान की कवायत भी लगातार होती रही है। मृदुला गर्ग का यह उपन्यास परम्परागत ही नहीं, बल्कि आधुनिकता के घिसे–पिटे वैचारिक चौखटे से भी बाहर निकलकर यह सवाल उठाता है कि स्त्री–पुरूष सम्बन्धों का आधार क्या है? प्रेम अथवा स्वतन्त्रता? और क्या इन सम्बन्धों का सत्य मनोगत है अथवा इनके समान्तर कोई दैहिक सच्चाई भी है ?

साधारणतः देखा जाय तो मृदुला गर्ग का यह उपन्यास एक त्रिकोणात्मक प्रेम कथा है, लेकिन प्रेम इसकी समस्या नही है, समस्या है स्वतन्त्रता, जो स्त्री–पुरूष दोनों के लिए समान रूप से मूल्यवान है। प्रेम यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके वैयक्तित्व विकास को वाधित करता है तो वह अस्वस्थ है। लेखिका ने इस विचार को उस गहराई से चित्रित किया है, जहां उसकी रागात्मकता पाठक को मुग्ध कर देती है और प्रत्येक स्थिति पाठकीय संवेदना का अटूट हिस्सा बन जाती है।

1977 में राजकमल पेपर वैक्स द्वारा पहली बार प्रकाशित इस उपन्यास में एक नारी की विभिन्न गलियों–पगडंडियों से गुजरते हुए उसकी संतुष्टि तक की यात्रा का वृतांत है। इसकी नायिका मनीषा एक उद्योगपति जितेन

की पत्नी है। जितेन अपने उद्योग में बहुत व्यस्त है। पत्नी के प्रति वह इतना अनौपचारिक है कि उसकी नारीगत संवेदनाओं को सहलाने के बारे मे भी कभी नहीं सोचता। पत्नी की व्यक्तिगत रूचियों में उसकी कोई हिस्सेदारी नहीं है। एक बार अपने कालेज के सालाना जलसा के सम्बन्ध में मनीषा जितेन से कहती है–

"आज हमारे कालेज का सालाना जलसा है, क्या तुम आओगे"? नास्ते की मेज पर मनीषा ने जितेन से पूछा ?

"कब"

जितेन ने चाय का एक घूँट भरकर घड़ी पर नजर ड़ालते हुए पूछा।

x x x x x

"छः बजे शुरू होगा उसने कहा"

"हूँ..........", वह सोचता रह गया।[1]

उक्त संवाद से स्पष्ट है कि जितेन अपनी कालेज में प्रवक्ता पत्नी मनीषा की इच्छा संकेतों को ग्रहण नहीं कर पाता। वह अपने आपमें ही व्यस्त है। मनीषा बहुत चाहती है कि जितेन सालाना जलसा में कालेज आये लेकिन जितेन को फुरसत नहीं है। अन्त में मनीषा अपने सवाल के माध्यम से अपनी इच्छा का स्पष्ट इजहार करती है –

[1] मृदुला गर्ग – उसके हिस्से की धूप, पृ0 59

"तो", गाड़ी चलने के कुछ देर बाद मनीषा ने कहा,–"तुम जलसे में नहीं आओगे?" जितेन खाने की मेज पर से आज का अखबार साथ लेता आया था उसे ही पढ़ने में मग्न था। उसने शायद उसका प्रश्न सुना ही नहीं, अखबार पढ़ता रहा।मनीषा को गुस्सा आने लगा, इस उदासीन व्यक्ति के साथ रहते–रहते दो वर्ष से ऊपर हो गये पर अब तक वह उसकी उदासीनता के प्रति पूरी तरह उदासीन नहीं हो पायी थी। "तुम कालेज आओगें या नहीं बता नहीं सकते"? उसने ऊँची आवाज में कहा। "क्या बात है"? जितेन ने अखबार पर से नजरें उठाकर अचरज से उसकी ओर देखा। "कितनी बार तो पूंछ चुकी हूँ कि कालेज में जलसा है तुम आओगे या नहीं"?[1]

मनीषा की इच्छा के बावजूद जितेन जलसे में स्वयं पहुँचने की बजाय मनीषा को लेने ड्राइवर से कार भिजवाता है। मनीषा कुढ़ के रह जाती है। उसे अपना जीवन बेहद एकाकी और उबाऊ लगता है। अभिजात्य वर्ग के पति की उदासीनता का दर्द झेलती नारी की मनोदशा को कथ्य बनाकर मृदुला गर्ग ने दिल्ली से पार्टटाइम पढ़ाने आये खुशमिजाज और मिलनसार प्रोफेसर मधुकर के गुरूत्वाकर्षण में जा उलझती है। मधुकर से परिचय धीरे–धीरे घनिष्टता और फिर प्रेम में परिणित हो गया। मनीषा जितेन से तलाक लेकर मधुकर से विवाह कर

---

[1] मृदुला गर्ग – उसके हिस्से की धूप, पृ0 60

लेती है। लेकिन धीरे–धीरे ज्यों–ज्यों समय बीतता जाता है मनीषा मधुकर से भी ऊब उठती है। साढ़े चार वर्ष के काल खण्ड में वह मधुकर के प्रति अपने आकर्षण को चुक गया पाती है।

"प्रेम करते–करते ऊब उठे वह और मधुकर, प्रेम का नाटक करने लगे।

x x x x x

अब उनका अपना अकेलापन सबसे ज्यादा उन्हें तभी कचोटता है, जब वे साथ होते हैं।"[1]

मधुकर और मनीषा जब एक बार नैनीताल में होते हैं, मधुकर प्रोफेसर ह्यूम से मिलने गया होता है और मनीषा लाइब्रेरी व्हीलर की दुकान पर खड़ी किताबें देख रही होती है कि उसे चिर परिचित आवाज सुनाई पड़ती है। जितेन अब भी उतना ही अनौपचारिक है किन्तु आज मनीषा को जितेन से मिलकर आश्चर्य भी हुआ और खुशी भी। वह जितेन से सवाल पर सवाल करती है और सदा से अल्पभाषी जितेन हाँ नहीं में जबाब देता है। मृदुला गर्ग ने नारी के अन्तर्मन को बड़ी सहजता से प्रस्तुत किया है। मनीषा जानना चाहती है कि जितेन क्या सोच रहा है, किन्तु उसे इच्छामय विश्वास है कि जितेन जो भी सोच रहा है उसमें मनीषा कहीं है जरूर, सहसा उसके लिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि जितेन अकेला आया है या किसी के साथ। उसके भीतर की नारी बेसब्री से जानना चाहती है कि जितेन ने विवाह किया है या नहीं। शायद उसके

---

[1] मृदुला गर्ग–उसके हिस्से की धूप, पृ0–131

अन्तरमन में उद्दाम इच्छा है कि उसने कोई दूसरा जीवन साथी न तलाशा हो। वह जितेन से दुबारा पूछती है–

"यहां क्या अकेले आये हो?"

"हूँ"? जितेन शायद समझा नहीं।

क्षणभर के लिए वह झिझकी, फिर पूरा दम लगाकर प्रश्न फेंक गयी।

"फिर शादी नहीं की?"

एकदम उत्तर न देकर वह क्षणभर उसके चेहरे की ओर देखता रहा, फिर बोला–"नहीं"।[1]

इस स्थिति में मनीषा ने मानना चाहा कि जितेन ने जानबूझ कर उत्तर देने में देर की है। जिससे वह समझ सके कि मनीषा हद से गुजर गयी। उसने महसूस किया कि ऐसा सवाल करके उसने जितेन को कष्ट पहुँचाया है– "पर क्या करती पूछना आवश्यक हो गया था। सच कहा जाय तो उसका चोट खाना तो उसे भला ही लगा।"[2]

मनीषा मधुकर की विवाहिता होते हुए भी पूर्व पति जितेन से बेहिचक शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है। भारतीय नारी की बदली नैतिकता और मनोदशा को कथ्य बनाकर मृदुला गर्ग ने कई कौतूहल और सवाल उत्पन्न कर

---

[1] मृदुला गर्ग–उसके हिस्से की धूप, पृ0 13

[2] मृदुला गर्ग–उसके हिस्से की धूप, पृ0 13–14

दिये हैं। जीवन के विचित्र उतार–चढ़ाव से गुजरती मनीषा अपनी जिन्दगी का मकसद खोजने में लगी रहती है। वह न मधुकर से और न ही जितेन से अपनी वांछित संतुष्टि प्राप्त कर पाती है। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि मनुष्य अपनी प्रकृति, रूचि और क्षमता के अनुसार जो कुछ कर सकता है और उसके वैसा करने में उसका और समाज का हित होता है, तो ऐसा करना ही सच्ची संतुष्टि देता है।

मधुकर जब मनीषा को बताता है कि उसके छात्र दिल्ली की दुकानों पर इसलिए तैनात हैं कि वह यह देख सके कि रोजमर्रा की चीजें ठीक दामों पर बिक रही हैं या नहीं तथा मधुकर यह भी बताता है कि वह एक जुलूस लेकर लोक सभा जा रहा है क्योंकि उसे वह लोकसभा भंग करवानी है। अब मौजूदा भ्रष्ट व्यवस्था को और भ्रष्ट चुनाव प्रणाली को बर्दास्त नहीं किया जा सकता। अन्त में वह कहता है– ''इससे और कुछ नतीजा न भी निकले, मनीषा'' उसने कहा–''कम से कम मुझे तसल्ली होगी कि जो कुछ मैं कर सकता था मैने किया।''

''वही तो, मधुकर, वही तो। वही तो असली करना है, आदमी की सबसे बड़ी उपलब्धि!'' मनीषा उत्साहित स्वर में चिल्ला उठी। उसे लगा इधर–उधर की बहस के बीच, सहसा मधुकर ठीक उसके मन की बात कह गया है।[1]

---

[1] मृदुला गर्ग–उसके हिस्से की धूप, पृ0 147–148

मनीषा की अन्तश्चेतना में मधुकर के शब्द गूंजते रहे– ''कम से कम मुझे तसल्ली होगी जो मैं कर सकता था मैंने किया।'' मनीषा ने एक सुखद अनुभूति के साथ पाया कि अकेलेपन की चिलकती धूप, अब भय से उसे डरा नहीं रही, प्यार से सहला रही है।

वह सीधी अपने कमरे में रखी अपनी लिखाई की मेज पर जा पहुँची और वहाँ पड़ा कलम हाथ में थाम लिया। ''तुम मुझे लेखिका मानो–न–मानो, मधुकर कुछ फ़र्क नही पड़ता, उसने मन ही मन कहा, मैं लिखूंगी, अवश्य लिखूंगी और वह जो मुझे परितोष दे सके। उससे और कोई नतीजा न भी निकले, कम से कम मुझे तसल्ली तो होगी कि जो कुछ मैं कर सकती थी मैंने किया।''[1]

---

[1] मृदुला गर्ग–उसके हिस्से की धूप, पृ0 148

१.(ख) चित्त कोबरा–मृदुला गर्ग :

1979 में प्रकाशित मृदुला गर्ग का यह उपन्यास बहुत चर्चित रहा। इस उपन्यास के माध्यम से मानों लेखिका कहना चाहती है कि प्रेम जीवन को गहराई देता है, विस्तार देता है किन्तु उसे संकुचित भी करता है। इसमें यह प्रश्न भी उठाया गया है कि क्या विवाहिता नारी का पर पुरूष से दैहिक सम्बन्ध उचित है? और यह सत्य भी उद्घाटित किया गया है कि जब धरती के भीतर का लावा उबलने लगता है, तो धरती की सीमायें उसे रोक नहीं पाती। यही स्थिति प्रेम की है। एक और प्रश्न खड़ा किया गया है कि क्या कोई भी नारी पति और प्रेमी के प्रति समुचित न्याय कर सकती है? यही प्रश्न दूसरे प्रश्न को भी खड़ा करता है कि क्या व्यक्ति अपने भीतर की आदिम और उद्दाम जिज्ञासाओं का गला घोंट कर ही समाज के प्रति उत्तरदायी रह सकता है? उपन्यास की नायिका मनु महेश की पत्नी है, किन्तु चर्च के फादर रिचर्ड से प्यार करती है, जो विवाहित और बाल–बच्चों वाला प्रौढ़ पुरूष है। इस उपन्यास के माध्यम से मानवीय जीवन से जुड़े अनेक सवाल नाग की तरह फन उठाये दिखाई पड़ते हैं, लेखिकाने अपनी अन्तर्धारा में प्रवाहित आत्मवंचना अथवा आत्मछल के माध्यम से तृप्ति का निष्कर्ष प्राप्त करना चाहा है। किन्तु व्यक्ति जब दो हिस्सों में बंटकर जीता है तो क्या दोनों के प्रति न्याय कर पाता है? महेश की पत्नी और रिचर्ड की प्रिया के रूप में अनेक अनुभूतियों से जुड़ कर भी क्या मनु भटकाव से मुक्त होकर मरीचिका को पहचान सकी? सवाल यह भी उठा है कि भीतर की आदिम और उद्दाम

जिज्ञासाओं को घोंटकर जीना और बस जीता रहना ही क्या समाज के प्रति उत्तरदायी होना है और ऐतिहासिकता के प्रवाह को अंतिम नियति मानने में व्यक्ति की समझदारी और जीत है या इतिहास को अपनी जरूरतों और इच्छाओं के अनुरूप गढ़ने में व्यक्ति जीवन की सार्थकता? इसी प्रकार के प्रश्नों में लिपटी जीवन–शक्ति से ओत–प्रोत प्रेमगाथा, जिसमें लौकिक सुख के क्षण भी हैं और लोक निरपेक्ष वेदना की अनुभूति भी। चित्तकोबरा का कथ्य अपने मूल में आधुनिक परिवेश और सार्वकालिक अन्तः लालसाओं की मृगतृष्णा समेटे हुए है। उपन्यासकार ने स्वतः ही स्वीकार किया है कि–"मैं मानती हूँ कि जीवन को उसके समग्र और उदात्त रूप में जानने, पहचानने के लिए प्रेम से अधिक उपयुक्त माध्यम नहीं मिल सकता। प्रेम स्त्री–पुरूष के बीच ही होता है, पर मात्र उनके आपसी सम्बन्धों की खोज प्रेम का कथ्य नहीं हैं। प्रेम के चैतन्य मनः समागम के अनुभव से गुजरते हुए दोनों पात्रों का जो आत्मोत्सर्ग होता है, उनके भाव-बोध में जो सूक्ष्मता, व्यापकता और गहनता आती है, उनकी संवेदनशक्ति जिस प्रकार प्रगाढ़ होती है, अपने चारों तरफ के घटित से जिस प्रकार वे एक–दूसरे के माध्यम से पहले से अधिक घनिष्ट तारतम्य स्थापित करते हैं, वहीं प्रेम का कथ्य प्रेम की अनुभूति अध्यात्म का अनुभव है। एक-से निःस्वार्थ, पूर्ण समर्पित प्रेम करने पर अहम् का जो हनन धीरे–धीरे होता है, वह व्यक्ति को उस बिन्दु पर पहुँचा देता है, जहां से बढ़कर मानव मात्र से प्रेम के आदर्श तक पहुँचना एक कदम आगे बढ़ने जैसा रह जाता है। यही चित्तकोबरा की प्रेरणा है, चाहे उसे रिचर्ड में पायें, चाहे मदर टेरेसा में"[1] इस

---

[1] मृदुला गर्ग–चित्तकोबरा–मेरी तरफ से, पृ0 6

उपन्यास के आत्म कथ्य के माध्यम से मृदुला गर्ग ने स्वीकार किया है कि प्रेम अपने मूल में प्लैटोनिक (अशरीरी) होता है। यानी उसकी परमगति प्रेमी से एकात्म होने में है, एक शरीर होने में नहीं। प्रेम अपने आदर्श रूप को तभी प्राप्त करता है जब प्रेमी–प्रेमिका के लिए शारीरिकता का कोई महत्व नही रह जाता। आत्मा का तब इतना घनिष्ट समागम हो जाता है कि एक–दूसरे की उपस्थिति–अनुपस्थिति भी महत्वहीन हो उठती है। इष्ट का अस्तित्व ही सबकुछ है, उसकी उपस्थिति नगण्य है। इष्ट के एब्सट्रैक्ट रूप में स्थापित होते ही प्रेम सार्वभौमिक रूप पा जाता है। चित्तकोबरा में मनु तथा रिचर्ड का प्रेम कुछ इसीतरह का प्रेम है, किन्तु सवाल यह उठता है कि उपन्यास में तो मनु और रिचर्ड के शारीरिक सम्बन्ध हैं, फिर उनके लिए अशरीरी (प्लैटोनिक) शब्द का प्रयोग कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर मृदुला गर्ग ने दिया है–"इसके उत्तर में मैं दो बातें कहना चाहूँगी कि पहली तो यह कि मैं नहीं मानती कि सामाजिक बन्धनों या नैतिक मूल्यों के भय से जो प्रेम शारीरिकता से दूर रहता है, वह वास्तविक अर्थ में प्लैटोनिक माना जा सकता है। ऐसा कहना अपने प्रति पाखण्ड के सिवाय और कुछ नहीं है। शरीर सम्बन्ध की इच्छा, ललक, कामना मन में है तो वह प्रेम शारीरिक ही है। आदर्श होगा तब जब अपने उस रूप को, सामाजिक दबावों से पूरी तरह मुक्त रखकर परस्पर प्रेम सम्बन्ध के सहज विकास में से प्राप्त करेगा। दूसरी बात यह है कि निश्चय ही इस रूप को प्राप्त करना सहज नहीं है। जिस प्रकार कोई एक दिन में

बुद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार प्रेम के आदर्श रूप को भी एक दिन में, अचानक प्राप्त नहीं कर सकता"।[1]

साधारणतया प्रेम के पारस्परिक विकास के साथ नर–नारी ऐसे बिन्दु पर अवश्य पहुँचते हैं, जब देह के माध्यम से प्रणयी व्यक्ति की उभयनिष्ठ लालसा अंकुरित होती है। तब शरीर अभीष्ट नहीं होता पर सम्प्रेषण का माध्यम अवश्य होता है। इस इच्छा को सामाजिक भय से प्रदमित कर देने से ही प्रेम 'प्लेटोनिक' नहीं बन जाता। इससे वह एक कुँआ का रूप धारण कर लेता है, जो उसे सदैव आहत करता है। जो पुरूष स्त्री के सम्मुख पड़ने से सिर्फ इस लिए कतराता है कि उसके भीतर काम–तृष्णा, उद्दाम वेग से जाग्रत न हो जाये, तो उसे ब्रह्मचारी कहना झूठ ही है। इस इच्छा का स्वयं उदात्तीकरण हो तो शरीर के आतंक सेमुक्त हुआ जा सकता है। वासनाओं की विकल यात्रायें जन्म–जन्मान्तर तक अपरिसीम अतृप्तियों का आलिंगन करती रहती हैं। दैहिक सम्बन्ध न स्थापित हों अथवा एक को छोड़कर दूसरे को और दूसरे को छोड़कर तीसरे को दैहिक सम्बन्धों में जकड़ लेने से भी कोई फर्क नहीं पड़ता। फर्क तो तब पड़ता है जब वासना की समाप्ति हो जाये और दैहिक निकटता और दूरी का कोई अर्थ न रह जाय। असली बात है कि प्रेम की शारीरिक अभिव्यक्ति का कितना महत्व है और उसके बाद प्रेम का स्वरूप क्या रहता है, "यदि सम्भोग के क्षणों में शरीर एक होते हुए भी नगण्य हो उठें, तन और मन का द्वैत पूरी तरह मिट जाये और अहम् के विसर्जन के साथ आत्मा पूर्णतः प्रिय में लुप्त हो जाय, तब

---

[1] मृदुला गर्ग–चित्तकोबरा–मेरी तरफ से, पृ0 7–8

हम कह सकते हैं कि यह प्रेम उस आदर्श रूप को प्राप्त कर सकता है, जिसमें भोग–लिप्सा या शरीर कामना का लोप हो सकता है। यानी शारीरिक सम्बन्ध के माध्यम से ही वह एकात्म मिलन प्राप्त होता है जिससे पुनः शरीर सम्बन्ध स्थापित करने की लिप्सा स्वतः लुप्त हो जाती है। शरीर का आतंक पूरी तरह मिट जाता है, जो लोग समाज या मान–मर्यादा के डर से शरीर को जबरदस्ती मारते हैं, उसकी सहज मृत्यु या मोक्ष से कतराते हैं, वे सदा के लिए प्रेम को शारीरी बनाये रखते हैं।"[1]

इस उपन्यास का कथ्य पाठक को जीवन तथा दैहिकता की विविध पगडंडियों से घुमाता फिराता, अनन्त लिप्साओं से लिपटाता-सा अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता है कि जहां शरीर सम्बन्ध परस्पर और एकनिष्ठ प्रेम के उत्कर्ष के रूप में बनता है, वहीं शरीर का नगण्य हो पाना भी सम्भव है। शरीर सम्बन्ध से गुजरकर भी उस मंजिल तक पहुँचा जा सकता है, जहां प्रिय अपने एब्सट्रैक्ट इष्ट रूप को प्राप्त कर ले, काम–लिप्सा समाप्त हो जाये तथा अमिट होने के साथ–साथ प्रेम सदा के लिए अशरीरी बन जाये। ऐसे प्रेम पर अवस्था, समय या उपस्थिति की प्रभविष्णुता समाप्त हो जाती है। महेश की पत्नी और बाल–बच्चेदार प्रौढ़ रिचर्डकी प्रेमिका विभिन्न देशों की यात्रा करते और वहां रचते–बसते प्रेमी की दीर्घ या संभावित अंतहीन अनुपस्थिति से अव्यथित, अव्याकुल एवं अनाशान्त मनु कदाचित उसी स्थिति की ओर संकेत करती है कि शारीरिकता के माध्यम से प्रेम का अशरीरी आदर्श प्राप्त कर लिया गया है –

[1] मृदुला गर्ग–चित्तकोबरा–मेरी तरफ से, पृ0 8–9

''महेश भौचंक मुझे देखता रहा, मैने नजर जलते बल्ब की तरफ कर ली, पास जाकर उसकी गीली कमीज की बांह पकड़ी और सावधानी से कहा– ''जाओं कपड़े बदल लो, मैं चाय बनाती हूँ, चूल्हे की आग है नहीं, गैस पर ही भुट्टा भून देती हूँ। मुझे यकीन है, अब जरा देर में बारिस थम जायेगी। सूरज निकल आयेगा। मैं रसोईघर में पहुँच गयी, दिन के अंधेरे का खतरा टल जायेगा। गैस के संक्षिप्त, सीमित साम्य दायरों में आग जलाई, एक पर पानी का भगौना चढ़ा दिया और दूसरे पर भुट्टा रख दिया। बाहर बारिश बराबर हो रही है....पर..... अभी देर है............कुछ क्षण अंधेरा आगे टल सकता है। मैंने आंखे बन्द कर लीं हैं.........बरगद की घनेरी छाया के बीच पहुँच गयी हूँ......रिचर्ड मेरे साथ हैं........ रोशनी में साझा करते चलो.........अंधेरा टूट–टूट कर भी भीतर पल लेगा।[1]

[1] मृदुला गर्ग–चित्तकोबरा, पृ0 163

२.(क) पचपन खम्भे लाल दीवारें-उषा प्रियम्बदा :

उषा प्रियम्बदा का 1979 में प्रकाशित उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' एक शिक्षित नारी की परिवेशगत विसंगतियों, मनस्तापों, कुण्ठाओं और दायित्वों में झिलमिलाते रागात्मक परिबोध का कथ्य धारण किये हुए है। उपन्यास की नायिका सुषमा कॉलेज में गर्ल्स होस्टल की वार्डन है। छोटी पेंशन पाने वाले पिता और परिवार की बड़ी लड़की होने के कारण उसकी नौकरी अनजाने और अनचाहे ही परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति का अनिवार्य साधन बन गयी। उसकी छोटी बहन निरूपमा की शादी की चिन्ता माँ-बाप को है, किन्तु सुषमा के विवाह की नहीं। सुषमा भी परिवार की जिम्मेदारियां उठाने में संतोष का अनुभव करती है। इसी बीच उसके जीवन में लीन कश्यप नाम का एक तरूण, जो आयु में उससे छोटा है अतृप्त और सुसुप्त आकांक्षाओं को जगाता हुआ उपस्थित होता है। नील फिलिप्स कम्पनी में सर्विस करता है। उसकी निगाहों की भाषा में सुषमा को अपने उपेक्षित तारूण्य के प्रति प्रशंसा के भाव तथा स्वयं की नारी के लिए पुरूष की पुकार के स्वर सुनाई पड़ते हैं। उसे यह जानना बहुत जरूरी लगने लगता है कि उसकी गृहसज्जा, केशविन्यास, रूपाकृति तथा सुरूचि के बारे में नील की सोच क्या है। उसे अपने बेकार बीत गये यौवन के दिनों का अफसोस होता है-''नील के लिए शायद वह एक आकर्षक युवती थी। शायद नील को उसकी आयु का ठीक अनुमान न था, नील को वह अच्छी लगती है, इस विचार से उसके अहम् को संतुष्टि सी मिलती थी, फिर नील युवा था। उसकी आंखों की

स्वच्छता, उसकी हंसी का खुलापन सुषमा को अच्छा लगा था। साथ ही, जीवन में पहली बार उसे उन खोये हुए वर्षो का दुःख था। जीवन की भाग दौड़ और आजीविका के प्रश्नों में चुपचाप विकीर्ण हो गये वे वर्ष और अब तो उसके चारो ओर दीवारे खिंच गयी थीं, दायित्व की, कुण्ठाओं की, अपने पद की गरिमा और परिवार की।"[1]

विद्यालय में अंग्रेजी की प्रवक्ता मीनाक्षी सुषमा की सहेली है। वह जब-तब सुषमा को सुरक्षित और अच्छी जिन्दगी जीने का उपदेश देती रहती है, मीनाक्षी का विवाह एक धनाढ्य उद्योगपति दिनेश से तय होता है, एक पत्र के माध्यम से मीनाक्षी अपने मन की गांठे खोलती हुई दिनेश के और अपने विचारों तथा रूचियों के अन्तर को समझते हुए भी लेक्चरर की अपनी जैसी रूटीन लाइफ से मुक्त होने की चाह को व्यक्त करती है -"मैं अच्छी तरह समझती हूँ कि दिनेश जी का और मेरा संसार बिल्कुल भिन्न है...........पर सच बात यह है, सुषमा कि मैं अपने इस जीवन से बुरी तरह ऊब गयी हूँ। लेक्चर्स और ट्यूटोरियल में बंधी हमारी संकुचित जिन्दगी.........शायद तुम मुझे पलायनवादी कहो, पर जब एक द्वार मेरे लिए खुल रहा है तो मैं उससे क्यों न निकल भागूं।[2]

पत्र पढ़कर सुषमा का अन्तर्मन विवश वेदना से कराह उठता है। सुषमा जैसी नारी मन के यथार्थ को उषा प्रियंबदा ने मार्मिक प्रस्तुति दी है-

---

[1] उषा प्रियम्बदा-पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 26
[2] उषा प्रियम्बदा-पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 38

"जिसके चारों ओर द्वार बन्द हों वह क्या करे ? उसी कारागार में रहता रहे, सीखचों से आती धूप और मद्धिम प्रकाश के बल पर सांसे लेता रहे"।[1]

पारिवारिक दायित्वों से जकड़ी सुषमा भरसक अपने नारी मन की आकांक्षा का गला घोंटने की चेष्टा करती है किन्तु चाहते हुए भी 'पुरूष' के प्रति 'नारी' के प्राकृतिक समर्पण को रोक नहीं पाती। नील नारी मन की दुर्बलता को पहचान लेता है। छुट्टियाँ बिताकर वापस लौटी सुषमा को स्टेशन से वह हॉस्टल तक उसकी अस्वीकृति के बावजूद पहुँचाने के लिए टैक्सी पर बैठ जाता है। नारी के स्वीकारात्मक नकार और पुरूष के ढीठ किन्तु मनभावन दुराग्रह का चित्रण द्रष्टव्य है –

"टैक्सी जैसे ही मथुरा रोड की अपेक्षाकृत अंधेरी और सुनसान सड़क पर आई, नील उसके पास सरक आया"।

"इसी लिए आने की जिद्द कर रहे थे ? सुषमा का स्वर टूट गया।"

"हाँ–हाँ–हाँ...... मैं बहुत बुरा हूँ, बहुत खराब हूँ! कुछ भी समझिये पर मुझे दूर मत रखिये"।

"सुषमा ने धीरे–से कहा–"टैक्सी ड्राइवर क्या सोचेगा"? ही कैन गो टू हेल!

आप नहीं जानतीं मैं कितना हठीला और जिद्दी हूँ, जो कुछ चाहता हूँ, चीख, पुकार, शोर मचाकर पा ही जाता हूँ।"

मैं न चाहूं तब भी"[2]

---

[1] उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 38
[2] उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 41

नील सुषमा के इनकार के बावजूद उसके आवास पहुँचता है। सुषमा के कहने के बावजूद नहीं जाता। वह महसूस कर चुका है कि सुषमा की 'न' में 'हाँ' छिपा है। प्रणय के जटिल रागात्मक दृश्यों को इस उपन्यास में सफलता पूर्वक चित्रांकित किया गया है– "कैसी बाते करते हैं ? सुषमा ने नील की ओर से पीठ फेर कर आलमारी बन्द करते हुए पूछा। नील उसके पास आ गया और पीछे से उसके कंधे पकड़ता हुआ बोला, 'सच'? एक लघु पल में सुषमा के आगे अनेक चित्र बने और बिगड़ गये।

सुषमा को लगा कि उसे आलमारी के आगे खड़े–खड़े एक युग बीत गया है। अब तक पढ़ी अनेक किताबों के पृष्ठ उसके आगे फड़फड़ा उठे, शब्द बोलने लगे। पर यह जीवन का स्पंदित क्षण था, अतीत और भविष्य के बीच का सेतु। उसे अपना शरीर फूल सा हलका लगने लगा और उस पर मधुर आलसता सी छाने लगी।

'बताइए,' नील ने उसे हिलाया। आलमारी बन्द कर सुषमा मुड़ी और उससे पीठ लगा कर खड़ी हो गयी। उसकी लम्बी पलकें आंखों पर छलक आयीं और कांपते होठों के कोनों में विश्व भर की लाज सिमट आई"।[1]

---

[1] उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 44

मीनाक्षी के विवाह के सुझाव पर सुषमा के अन्दर का विवश और कुण्ठित नारीत्व कराह उठता है–

"मुझे धनी व्यवसायी कहाँ मिलेगें? सुषमा ने मुस्कराकर कहा।

"तुम्हें उनकी जरूरत कहां है! तुम तो स्वयं अपने सुख में धनी हो, अगर कोई मेरा अपना होता, जितने कि तुम्हारे–तो मैं अपने को बहुत भाग्यशाली समझती"।

"उधार के धन से कोई सुखी नहीं होता।"

"क्यों" ?

"मैं नील से शादी नहीं कर सकती। मैं पांच साल बड़ी जो हूँ"।[1]

मीनाक्षी सुषमा को घर बसा कर जीने की बार–बार सलाह देती है। सुषमा का नारी–मन पारिवारिक, मानसिक तथा परिवेशगत अकथ चक्रव्यूहों में फँस कर किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता। मीनाक्षी के पूछने पर कि नील का क्या होगा। सुषमा कहती है –"नील की शादी होगी, परिवार होगा, मैं उसके जीवन में छोटी सी कसक बन कर रह जाऊँगी।"[2]

नील की तरफ से आये विवाह प्रस्ताव को सुषमा अन्दर से घायल होकर भी विवशता में नकार देती है। अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों का हवाला देती है।

---

[1] उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 99

[2] उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 100

नील जब सहर्ष उसके माँ–बाप–भाई–बहनों के दायित्व के वहन की इच्छा जाहिर करता है, तो सुषमा नारी मन की गहराइयों का एक और यथार्थ प्रकट करती है– "और कभी तुम भावावेश में किये गये, इस निश्चय पर पछता उठो तो ? सुषमा ने कमरे का एक चक्कर लगाया और कहा–"तुम्हारी अभी आयु ही क्या है, मैं तुमसे इतनी बड़ी भी तो हूँ नील। हमारा विवाह कभी सफल न होगा। मुझे सदा यह विचार डसता रहेगा कि कहीं कोई बहुत छोटी, बहुत सुन्दर लड़की मुझसे तुम्हें छीन न ले"।

X X X X X

"मेरी मजबूरी समझतें क्यों नहीं–"सुषमा अपनी उंगली में पड़ी अंगूठी बार–बार उतार–चढ़ा रही थी।

"तुम्हारी ऐसी क्या मजबूरी है"? नील का क्रोध उसे भीषण विस्फोट की भाँति लगा।

X X X X X

"तुम कैसी बातें कर रहे हो नील"?

"ठीक है, तुम यहीं रहो, इन पचपन खम्भों में बन्दी होकर।"[1]

---

[1] उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 104–105

सुषमा को जब यह सूचना मिलती है कि उसका निराश प्रेमी फर्म के खर्चे पर हालैण्ड जा रहा है– तो वह एयरोड्रम जाकर नील को 'सी आफ' करने के निश्चय को उठने के पहले दबा देती है किन्तु वह ऐसा कर नहीं पाती। वह मन की विवशता में एयरपोर्ट जाने की तैयारी करती है। टैक्सी आ जाने के बाद उसका मन परिवर्तित होता है। वह मीनाक्षी से कहती है –"टैक्सी वापस कर दो मीनाक्षी, मैं नही जाऊँगी।"[1]

[1] उषा प्रियम्बदा–पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ0 120

२.(ख) रूकोगी नहीं राधिका–उषा प्रियम्बदा :

1967 में प्रकाशित उषा प्रियम्बदा का उपन्यास 'रूकोगी नहीं राधिका' अपने कथ्य के माध्यम से एक ऐसी स्त्री के अन्तरंग और वहिरंग संदर्भों को प्रस्तुत करता है, जो अपने आप में उलझी हुई है और अपनी खोज में अपने ही अन्दर पैठ कर यात्रा कर रही है। विदेश में जाकर अपने परिवेश के प्रति व्यग्रता और उस परिवेश में लौट कर उससे मोहभंग के कारण आखिर उसी के भावात्मक लगावों में अन्तर्निहित है। उपन्यास की नायिका राधिका ने अपने घर, भारत में जो अकेलापन झेला है, अमेरिका पहुँचकर उसकी भयावहता और सघन हो उठती है। वह स्वयं को एक सांस्कृतिक शून्य में पाती है। नये बने सम्बन्धों की रसमयता के बावजूद उसका अजनबीपन बढ़ता जाता है। वह लौटना चाहती है अपने घर–परिवार, अपने देश, अपने पिता के पास, जिनसे उसे गहरा अनुराग है। वह लौटती भी है–लेकिन अंशतः उसका व्यक्तित्व विभाजित हो चुका होता है। इस विघटन का प्रारम्भ तो भारत में ही उस समय हो चुका था, जब उसके अपने अतिप्रिय पिता के जीवन में एक औरत आती है। अठारह साल एकाकी जीवन बिताने के बाद उसके पिता विवाह करते हैं, जो वह सहन नहीं कर पाती और डैन नामक युवक के साथ अमरीका चली जाती है। अमेरिकी जीवन के विविध रूप रंगों तथा परिस्थितियों से गुजरते हुए राधिका को आभास होने लगता है कि उसकी यह यात्रा छद्मश्लथ भटकन की ही यात्रा है। दैहिक भोग उसकी आत्मा की रिक्तता की पूर्ति नहीं कर सकते। डैन भी उसे अकेला छोड़ देता है। तब मन की

अनन्त नीरस गलियों तथा उदासी के मौसम से गुजरी राधिका पुराने सम्बन्धों को पाने के लिए व्याकुल हो उठती है। बिडम्बना यह है कि प्रयत्न करके भी वह पुराने सम्बन्धों को निभा नहीं पाती। इस उपन्यास में एक तरफ पिता और पुत्री में प्यार का तनाव है। दूसरी तरफ राधिका के मनीष और अक्षय के बीच डोलने की स्थिति है। अन्त मे राधिका पिता के साथ रहना भी अस्वीकार कर देती है और मनीष के साथ देश भ्रमण के लिए निकल पड़ती है।

रूकोगी नहीं राधिका के कथानक की बुनावट कुछ इस प्रकार है, जिससे उसका कथ्य लोकार्पित हुआ है। राधिका माँ के दिवंगत होने के बाद अपने पिता के साथ पूरी तरह 'एडजस्ट' हो गयी थी। बाप–बेटी की पारस्परिकता दोनों के जीवन में किसी रिक्तता की गुंजाइस नहीं रहने दे रही –राधिका की इस सोच को उस समय गहरा झटका लगा, जब बेटी की उम्र की विद्या नामक तरूणी से उसके पिता विवाह कर लेते हैं। इसकी प्रतिक्रिया में राधिका का मन विद्रोह से भर उठता है। वह अपने और अपने पिता के बीच विद्या को सहन नहीं कर पाती। इसी समय उसका परिचय डेनियल पीटरसन से होता है। डेनियल (डैन) भारत में शिकागो के एक समाचार पत्र का संवाददाता होकर आया था। उन दिनों स्वेच्छा से एक साल की छुट्टी ले, फैजाबाद रोड की एक पुरानी कोठी में रह रहा था और विदेशियों के लिए "भारत दर्शन" नाम की एक गाइडबुक लिख रहा था। राधिका भी उन दिनों पापा की एक पुस्तक के लिए रिसर्च करने अक्सर लाइब्रेरी या पुरातत्व विभाग की लाइब्रेरी जाती और वहीं डैन से उसका परिचय हुआ।

अपनी आयु के प्रत्येक विद्यार्थी की तरह राधिका का भी विदेश भ्रमण का एक स्वप्न था। डैन ने उसे इस स्वप्न को मूर्तरूप देने में सहायता का बचन दिया और जब शिकागो विश्वविद्यालय में उसका प्रवेश हो गया, तब तो राधिका उसके प्रति कृतज्ञता से भर उठी, पर तब भी समस्या थी वहां रहकर जीवन निर्वाह की, क्योंकि जो आंशिक छात्रवृत्ति उसे मिली थी, वह नाम मात्र की थी। तब डैन की ओर से सुझाव आया कि क्यों न राधिका शिकागो में उसे पुस्तक लिखने में सहायता दे। सारी सामग्री इकट्ठा कर लेने के बाद भी डैन को एक भारतीय सहायक की आवश्यकता तो थी। राधिका निष्कपट रूप से इस पर सहमत हो गयी थी। आयु में डैन उससे उन्नीस–बीस साल बड़ा था। डैन की अमेरिका में एक पत्नी तथा बच्चे भी हैं। एक योजना के अनुसार डैन के लौटने पर पति–पत्नी में विच्छेद होने वाला है। बच्चा दोनों के पास आता–जाता रहेगा। राधिका कई दिन इन सम्बन्धों पर सोचती रही। कैसा होगा वह देश, जहां लोग इतनी आसानी से साथी बदल देते हैं, क्या रिक्ति हृदय को कचोटती नहीं ? वह तो पापा को ही क्षमा नही कर पायी। इसका उल्लेख करने पर डैन हंसा–"कारण तुम्हारा व्यक्तित्व और परिवेश है राधिका"।

माँ के मरने के बाद तुम्हारा पिता के प्रति लगाव बहुत कुछ एबनार्मल हो गया। यदि भारतीय परिवेश में तुम्हें प्रारम्भ से ही युवा मित्र बनाने की सुविधा होती तो ऐसा न होता। तब तुम्हें प्रसन्नता होती कि तुम्हारे पिता ने जीवन

में फिर सुख पाया"।[1] राधिका तथा डैन के संवाद से राधिका की मनोग्रंथि का आभास होता है कि वह क्यों पिता से रूष्ट थी और क्यों पिता की उम्र वाले डैन से इतना जुड़ सकी थी।

"तब डैन हंसा और बोला–नही राधिका, मैं तुम्हें यह जताने की कोशिश कर रहा हूँ कि तुमने अपने ही बनाये दुःख के घेरे में अपने को बांध लिया है। ठीक है पिता ने दूसरी शादी कर ली। तुम भी सीमाओं से निकलो, दुनियां देखो, अपनी संभावनाओं को विकसित करो। किसी युवा पुरूष से..........."

"मुझे युवा पुरूष बहुत अपरिपक्व लगते हैं।"

"इसलिए कि तुम प्रत्येक में अपने पिता की–सी मानसिक प्रौढ़ता ढूंढती हो, मालूम है कि तुम मेरे साथ इतनी फ्री क्यों हो?"

"क्यों"? राधिका ने पूंछा–
"क्योंकि तुम मुझमें कहीं अपने पिता का प्रतिबिम्ब पाती हो।"[2]

डैन के साथ रहते वर्ष भी पूरा न हुआ कि उसने ठंडे शान्त स्वर में बताया कि उसे एक बार फिर पूर्व में जाने का अवसर मिल रहा है। "तुम्हें नई तरह एडजस्ट करने में समय लगेगा, मैं जानता हूँ, मुझसे छूटने पर दुःख भी होगा। तुममें युवावस्था की लचक है और तुम शीघ्र ही दुःख पर विजय पा लोगी।

---

[1] उषा प्रियम्बदा–रूकोगी नहीं राधिका, पृ0 26

[2] उषा प्रियम्बदा–रूकोगी नहीं राधिका, पृ0 26–27

मैं तुम्हें रिजेक्ट नहीं कर रहा हूँ, मुक्त कर रहा हूँ। तुम्हें अपने साथ चलने के लिए इस कारण नहीं कहता क्योंकि तुमने कभी, एक क्षण के लिए भी प्यार नहीं किया। राधिका, तुम मुझमें अपना पिता ढूंढ रही थी, वही पिता जिसे त्रास देने के लिए तुम मेरे साथ चली आई थी। पर मैंने तुम्हारे पिता की जगह स्थापित नहीं होना चाहा, मैं तो स्वतन्त्र व्यक्तित्व हूँ।"[1]

राधिका पत्थर की मूर्ति की तरह डैन के कथन में सत्य का आभास करने के लिए विवश थी। डैन ने राधिका को असहाय नहीं छोड़ना चाहा उसके जीविका के लिए व्यवस्था करनी चाही, जिसे राधिका अस्वीकृत कर दुःख, खेद, क्षोभ, खीझ, रूलाई, आत्म भर्त्सना के भारी ढेर को अपनी छाती पर लादकर अपनी जिन्दगी का बोझ अपनी टांगों पर सम्हालने के लिए चली जाती है।

भारत लौटकर राधिका अपने परिजनों के साथ जीवन के खट्टे–मीठे अनुभव प्राप्त करती है। एक दिन जब वह नहा रही होती है तो उससे बड़दा (बड़ा भाई) उसे सूचना देते हैं कि पापा का फोन आया है कि विद्या ने नींद की गोलियों का ओवरडोज ले लिया है। विद्या की मृत्यु के बाद जब वह अपने पापा के साथ एक शाम गुजार रही होती है। पापा उससे उसके अगले कार्यक्रम के बारे में पूछते हैं तो राधिका एक लम्बी सांस लेती है। पापा आगे झुककर उसके कंधे पर हाथ रख देते हैं। उस स्पर्श से राधिका पिघल उठती है। वह अपने को संयत करके पापा से पूछती है–

---

[1] उषा प्रियम्बदा–रूकोगी नहीं राधिका, पृ0 29

"और आप"?

मैने अपने बारे में कुछ सोचा नही। चाहता हूँ, तुम यहां रहो राधिका, पहले की तरह।

"नहीं पापा मैं जाना चाहती हूँ। मनीष.......मेरे एक बंधु.......।"[1] बात बीच में छोड़ राधिका रूक गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश–विदेश में भटकती राधिका न जा ही सकी न लौट ही सकी। विदेश में जाकर अपने परिवेश की व्यग्रता और उस अपने परिवेश में लौट कर असंपृक्ति के कारण वह द्वंद्व मुक्त हो ही नहीं सकी।

---

[1] उषा प्रियम्बदा–रूकोगी नहीं राधिका, पृ0 116

३.(क) भूमिजा–सुधा गोयल :

1989 में प्रकाशित सुधा गोयल का 'भूमिजा' उपन्यास नर और नारायण के बीच असहाय रूप में झूलती एक नारी की अन्तर्व्यथा के बहुआयामी कथ्य सुगुम्फित किये है। नारी–निर्यातन से आहत सुधा गोयल अपने कथ्य का निरूपण करती हुई स्वयं लिखती हैं –''सीता मुझे मात्र मानस की पात्री ही नहीं; बल्कि हर युग की नारी की पीड़ा अपने में समेटे नारी जाति का प्रतिनिधित्व करती लगी। सभी कथाकारों ने राम के रूप में एक आदर्श पुरूष को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है और मानस में तो राम ईश्वरत्व को प्राप्त हैं। वहीं ईश्वरत्व सीता को रास नहीं आया। मुझे भी उद्वेलित किया और मर्यादा पुरूषोत्तम राम सीता द्वारा मर्यादा के कटघरे में खड़े हो गये। सीता मनसा–वाचा–कर्मणा राम को समर्पित, लेकिन राम उस समर्पण को स्वीकार न कर सके–यह भाग्य अथवा उन घटनाओं का दोष नहीं बल्कि एक निरंकुश पुरूष समाज का दम्भ है, मर्यादा की आड़ में नारी को छलना है।[1]

सुधा गोयल ने पारम्परिक राम कथा की वस्तु पर अस्तित्वचेतस् नारी की सोच और संवेदना को अभिव्यक्ति दी है। सीता के शोषित नारीत्व के प्रति गहरी सहानुभूति से लेखिका की कलम बहुधा तत्कालीन परिवेश, परम्परा

---

[1] सुधा गोयल, भूमिजा, प्राक्कथन से

तथा पुरूषवादी मानसिकता पर प्रहार करती है। कृतिक ने स्वयं स्वीकार किया है– ''उपन्यास की कथावस्तु 'रामचरित मानस', 'बाल्मीकि रामायण', सरल रामायण तथा योगेन्द्र रीगावाल के आलेख 'सीतामही', से मुख्य रूप से उठाई गयी है। घटनाक्रम रामचरित मानस के अनुरूप ही आगे बढ़ता है। समस्त कथ्य ऐतिहासिक होते हुए भी मेरी कल्पना से अछूता नहीं रहा है, क्योंकि जिस भावना से प्रेरित हो यह कथ्य तैयार हुआ है, उसमें आज का सामाजिक परिवेश भी सहायक है।[1]

पूर्व कथनानुसार रामकथा की परम्परित कथावस्तु के अनुसार लेखिका की कल्पनाशील रचना धर्मिता के सहारे 'भूमिजा' का प्रवाह प्रवहमान रहता है। जहां कहीं नारी के सम्मान और अस्मिता को चोट पहुँचने का बोध होता है, वहीं सुधा गोयल की लेखनी पूर्व निर्धारित नियमों तथा परम्पराओं का उल्लंघन कर नारी की पीड़ा से सराबोर विद्रोह की आग उगलने लगती है–हाँ नारी के परम्परागत समर्पण को इस विषम स्थिति में भी जीवित रखने का उपक्रम स्पष्ट परिलक्षित होता है। मिथिला नरेश पिता जनक द्वारा स्वयंवर के नाम पर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने की शर्त को सीता की आधुनिक नारी सुलभ तर्क प्रवण चेतना स्वीकार नहीं कर पाती। सीता को लगता है कि उसे वर के स्वयं वरण की स्वाधीनता होनी ही चाहिए थी।

[1] सुधा गोयल, भूमिजा, प्राक्कथन से

"स्वयंवर का अर्थ तो स्वयं वरण करना है और मैं स्वयं वरण कर चुकी हूँ, फिर इस शर्त का क्या औचित्य? क्या पिता जी यह शर्त वापस नही ले सकते?"

x x x x x

हृदय के जिस स्थान पर प्रियतम राम का नाम लिखा है, क्या उसे मिटा कर किसी अन्य का नाम लिखा जा सकेगा ? इतनी भीषण प्रतिज्ञा पिता जी ने क्यों की? फिर क्या अधिकार है पिता जी को, किसी अन्य की धरोहर सीता स्वयंवर की शर्त बन सके?[1]

लंका पर राम की विजय के बाद सीता के हृदय में प्रिय मिलन की स्वाभिक उत्कंठा है। जब हनुमान सीता को लेकर राम के पास पहुँचते हैं, तो सीता के भावुक हृदय को उस समय चोट लगती है जब राम के नेत्रों में प्रिया मिलन की ललक दृष्टि गोचर नही होती।और तो और सीता को वज्राघात की भांति हनुमान से जब यह सुनने को मिला कि सीता को रामादल के समक्ष अग्निपरीक्षा के माध्यम से अपनी शुचिता और अस्मिता की परीक्षा देनी होगी। पुरूष प्रधान समाज के दंश से आहत सीता आधुनिक जागरूक नारी की भांति तड़प कर कह उठती है–

---

[1] सुधा गोयल–भूमिजा–प्राक्कथन, पृ0 37

"पति पत्नियों के माध्यम से अपने मनोरथ पूर्ण करेंगे और फिर पत्नियों को अपनी यौन शुचिता का प्रमाण–पत्र भरे समाज में देना पड़ेगा"।

x x x x x

"मेरी पवित्रता और एकनिष्ठा को चुनौती देकर आपने उचित नहीं किया आर्यपुत्र! हर युग की हर औरत मेरी ही तरह अपनी शुचिता की परीक्षा देने को विवश होगी..........जो नर अपनी पत्नी पर अविश्वास कर पत्नी की शुचिता की परीक्षा लेकर उसे खण्ड–खण्ड करते हैं, वे भले ही दुनियां को जीत लें, लेकिन मन को नहीं जीत सकते।[1]

लक्ष्मण के माध्यम से जब सीता को पता लगता है कि राम ने धोबी द्वारा लगाये गये लांछन के आधार पर सीता का परित्याग कर दिया है और अब लक्ष्मण सीता को वन में छोड़ आने को विवश हैं–सीता का नारीत्व तेजाबी ज्वाला से नहा उठा। यहां भी लेखिका का निर्भीक कथ्य नारी पर किये गये निर्मम अत्याचार का सबल विरोध करता है– "अपने भाई से कहना लक्ष्मण–पराई बातों पर विश्वास करने वाले निर्बुद्धि ही नहीं कायर भी होते हैं। पति–पत्नी के बीच का रिस्ता विश्वास पर कायम होता है, जिस दिन विश्वास टूट गया–उस दिन रिश्ता भी समाप्त हो गया। क्या तुम्हारे भाई में इतनी हिम्मत न थी कि भरी सभा के सामने सीता को सच्चरित्र प्रमाणित करते हुए उसके साथ स्वयं भी वन–गमन को उद्यत होते।"[2]

---

[1] सुधा गोयल–भूमिजा–प्राक्कथन,पृ0 122–123

[2] सुधा गोयल–भूमिजा–प्राक्कथन,पृ0 130–131

३.(ख) पटाक्षेप–सुधा गोयल :

1995 में विवेक प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित सुधा गोयल के 'पटाक्षेप' उपन्यास में एक माँ की पीड़ा, ग्लानि और अपमान की मर्मस्पर्शी गाथा है। आधुनिकता की होड़ में, आर्थिक समस्याओं से जूझता मध्यम वर्गीय परिवार का दायरा आज बहुत संकीर्ण हो गया है। इसमें एक माँ की वृद्धावस्था में क्या दशा होती है। किस प्रकार वह अपने अशक्त शरीर को ढोती– घसीटती जीवन जीती है यही इस उपन्यास का प्रधान कथ्य है।

विघटन,क्षोभ और संत्रास से पीड़ित मध्यमवर्गीय परिवार समाज की वह रीढ़ है जो बोझ की अधिकता से निरन्तर झुकते जाने के लिए विवश है। ऐसे मध्यमवर्गीय परिवार की माँ वृद्धावस्था के दौरान शरीर से अस्वस्थ होकर किस प्रकार एकाकी जीवन के लिए विवश हो जाती है। इसे समझने के लिए किसे फुर्सत है? दो–दो पीढ़ियों का अन्तर, आधुनिकीकरण, रूढ़ियां और संकीर्ण मानसिकता से जूझता मध्यमवर्गीय परिवार त्रिशंकु की तरह धरती–आकाश के बीच में लटका रहता है। आर्थिक समस्यायें और आधुनिक चकाचौंध में आंख खोलने वाले किशोर इस बुजुर्ग पीढ़ी का अपमान ही नही करते, बल्कि सिसक–सिसक कर जीने के लिए विवश कर देते हैं। यह संघर्ष एकतरफा नहीं। बुजुर्ग पीढ़ी नई चकाचौंध में आंखें खोल ही नहीं पाती और परिवार की विधवा परिवार की वृद्धा माँ

बेकार सामान की तरह इधर–उधर लुढ़काई जाती रहती है। यह माँ सब कुछ सहती है और बदले में केवल दुआंये देती है।

किन्तु यही माँ मध्यमवर्गीय परिवार के आम चलन के अनुसार ही बेटे और बेटी में भेद रखती है। खाने पहनने में पक्षपात करती है। बेटी कनु का बचपन माँ के दुहाथ से अक्सर घायल होता है। वह सोचती है– "मैं लड़की हूँ तो क्या मेरा मन नहीं है ? क्या मुझे भूख नहीं लगती ? भाइयों को हर चीज कटोरा भर कर मिलती है। जब उनसे बच जाती है तब मेरा नम्बर आता है। भाइयों की जूठी सब्जी–रोटी माँ मुझे दे देती है। ना–नुकुर का मतलब है पिटाई। भाइयों के उतरे कपड़े काट–पीटकर मेरे नाप के कर दिये जाते हैं। भाइयों के पुराने स्वेटर खोलकर माँ मेरे लिए उसी उन के स्वेटर बुन देती हैं।[1]

कनु इस उपन्यास में पांच भाइयों की अकेली बहन के रूप में दर्शायी गयी है। कनु सदा देखती है कि माँ सहनशीलता की पराकाष्ठा पर पहुँच कर बाबा (कनु के पिता) का अत्याचार सहती रहती। बाबा के अत्याचारों से व्यथित माँ कनु के प्रति भाइयों की तुलना में भेद व्यवहार करने वाली होकर भी सहानुभूति की पात्र है। एक बार कनु माँ से यह पूछ लेती है– "माँ! इतना क्यों सहती हो ? बार–बार कहने पर माँ ने केवल दो शब्द ही कहे–'और ठौर ही कहां है? अब तो इन्हीं चरणों में मुक्ति लिखी है। अपनों से मान–अपमान कैसा'"[2]।

---

[1] सुधा गोयल–पटाक्षेप, पृ0 13

[2] सुधा गोयल–पटाक्षेप, पृ0 23

धीरे–धीरे कर के बेटे बड़े होते हैं। बहुएँ आती हैं। भाइयों की नौकरियाँ लगती हैं किन्तु वे परिवार की समस्याओं की तुलना में अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी को अधिक महत्व देते हैं। कनु के विवाह की समस्या को हल करने के लिए बाबा पुस्तैनी मकान बेचना चाहते हैं। संवेदनशील कनु ऐसा होने देना नहीं चाहती। वह प्राइवेट स्कूल में शिक्षिका की नौकरी करके आर्थिक तंगी को खत्म करना चाहती है। बाबा आहत होते हैं किन्तु भाइयों को राहत होती है। इसी घुटन में बाबा की हृदयगति बंद होने से दुनियां छोड़ देते हैं।

अब कनु का विवाह समस्या बन गया। माँ की छाती का बोझ दिनो–दिन बढ़ता जा रहा था। घर के बंटवारे में माँ को सब भाइयों के यहाँ बारी–बारी से डेढ़–डेढ़ महीने जीवन गुजारने का अधिकार मिला और यहीं से माँ के जीवन की दारूण यात्रा प्रारम्भ हुई। ''जिसे जरूरत होती माँ को ले जाता, जरूरत समाप्त हो जाती माँ को उनकी कोठरी में छोड़ दिया जाता। माँ गेंद की तरह बेटों के मध्य लुढ़कने लगी। वरना पुराने बेकार वर्तन की तरह पड़ी रहती। आवश्यकता के समय झाड़पोछकर और मलाई करके जिस प्रकार वर्तन को चमका लिया जाता है, बस वहीं स्थिति उनकी हो गयी थी''।[1] विभिन्न त्रासद विसंगतियों से गुजरती माँ की मृत्यु ही उन्हें पारिवारिक अपमान जनक सत्रांस से मुक्ति दे पाती है।

---

[1] सुधा गोयल, पटाक्षेप, पृ0 51

३.(ग) अलाव–सुधा गोयल :

विवेक प्रकाशन द्वारा 1995 में प्रकाशित इस उपन्यास में प्रधान कथ्य के रूप में तिरस्कृत पत्नीत्व को लेकर मातृत्व के बल पर संघर्ष करती नारी की मर्मस्पर्शी कथा है।

मीना एक अबोध बालिका से विविध सामाजिक तथा पारिवारिक विंसगतियों का साक्षात्कार करती हुई बड़ी होती है, तो उसके बाबू जी उसका विवाह सुरंजन नामक युवक से कर देते हैं। मीना की सुहागरात एक शराबी (सुरंजन) की बेहूदगी तथा बलात्कार के साथ सम्पन्न होती है। सुधा गोयल ने पति–पत्नी के बीच इस अवांछित और अपवित्र घटना का ससंवेदित चित्रण किया है –"आहिस्ते से किवाड़ हिले। गठरी में कम्पन्न हुआ। कुछ और अपने आप में सिमट गयी और तभी कमरे में अजीब सी गंध भर गयी। झीने अवगुंठन के बीच एक झलक दिखी.......जिसका इंतजार मैं धड़कते दिल से कर रही थी, वह लड़खड़ाता हुआ मेरी ओर बढ़ रहा था। मुझे लगा, मेरी कल्पनाओं का महल ढह रहा है। ....लेकिन तभी सुरंजन ने मेरे पास आकर मेरे सिर का पल्लू बड़ी बेरहमी से खींच दिया।"[1]

सुरंजन के अपमानजनक व्यवहार से मीना का नारीत्व कदम–कदम पर आहत होता है। साम्प्रतिक संदर्भो में जब नारी सशक्तिकरण के उद्‌घोष हो रहे

---

[1] सुधा गोयल, अलाव, पृ0 25

ां और नारी मुक्ति आंदोलन धरती से आकाश तक को गुंजा रहे हों, तब भी नारी की स्थिति उसके निजी अहसास में पिंजड़े में बन्द पक्षी से हटकर और कुछ नहीं हो सकती। बचपन से लेकर बृद्धावस्था तक नारी अत्याचार, अन्याय, शोषण, उत्पीड़न तथा आंतक से कितनी कुण्ठित है, इस उपन्यास में यह मुख्य कथ्य बन कर प्रस्तुत हुआ है –"उसे क्या मालूम कि ये आदमी कितना जालिम होता है! पहले चुग्गा डालेगा, फिर प्यार से सहलाएगा और सोने के पिंजरे में कैद करके ड़ाल देगा। फिर मनचाहे खेल खिलायेगा। पिंजरा सोने का हो या लोहे का क्या फर्क पड़ता है। पिंजरा–पिंजरा है और पिंजरे में बन्द पंक्षी का भाग्य भी पिंजरा है। एक निश्चित धुरी, खुलेपन का एक निश्चित दायरा, आंकने को एक अदद रोशनदान और इससे अधिक चाह जगी तो फिर पंख काटने के लिए हाथ में कैंची आ जाती है।"[1]

नारी मन की कोमलता बर्बर पुरूष प्रधान समाज का आखेट बनने के लिए नारी को विवश कर देता है। नारी की सहिष्णुता, सदाशयता तथा बलिदानी स्वभाव उसको असहाय पीड़ा के ऐसे तिलिस्म में जकड़ देता है, कि वह पश्चात्ताप के अलावा और कर ही क्या सकती है?

---

[1] सुधा गोयल, अलाव, पृ0 31

"परिवार और समाज के लिए औरत ने हमेशा अपना बलिदान दिया है। यहीं औरत हारी है, क्योंकि वह बुजदिल है। विवाह–मण्डप में लिए सात-फेरे सात जन्मों का बन्धन । नहीं-बस यही जन्म सातवां हो।"[1]

पति की इतनी प्रताड़ना तथा अत्याचार सहने के बाद यहां तक पति द्वारा उसे छोड़ कर परनारी उषा गौतम के साथ रहने लगने के बाद भी जब सुरंजन के मित्र रमेश द्वारा मीना को यह सूचना मिलती है कि सुरंजन का सारा धन उषा गौतम हड़प कर उसे छोड़ चुकी है और सुरंजन इस समय मरणान्तक रूग्णता में एक सरकारी अस्पताल के वार्ड नम्बर दो के पंलग नम्बर पांच में अनाथ की तरह पड़ा है, मीना स्वयं को रोक नहीं पाती और सुरंजन की उचित चिकित्सा और देखभाल करवाने के लिए पानी की तरह पैसा बहाती है, वह भी गुप्त रह कर। सुधा गोयल की क्रांतिधर्मी कलम में भारतीय नारी के अवशेष भी परिलक्षित होते हैं।

"आहिस्ते से चादर खींच कर सुरंजन को ओढ़ाई और फिर मुख्य चिकित्साधिकारी से मिल कर प्राइवेट वार्ड के साथ चौबीस घण्टे के लिए एक नर्स की व्यवस्था कर दी। अग्रिम राशि भी जमा करा दी लेकिन चलते समय डाक्टर से ये भी अनुरोध कर दिया कि यह बात गोपनीय ही रखी जाय कि मरीज का इलाज कौन करा रहा है, स्वयं मरीज से भी।"[2]

---

[1] सुधा गोयल, अलाव, पृ0 80

[2] सुधा गोयल, अलाव, पृ0 9

मीना के रूप में एक नारी का जीवन अलाव की तरह दहकता ही रहता है। उसका बेटा आकाश बड़ा होकर बी0ए0 का विद्यार्थी होता है। उसकी बीमारी में मीना का गृहस्थी का सामान तक बिक जाता है। बर्तन बेच कर आकाश के लिए दवाइयां लेकर लौट रही मीना को घर वापस आकर एक पत्र मिलता है जो उसकी अनुपस्थिति में किवाड़ की झिरी से डाकियां डाल गया होगा। खोलकर देखा तो वह पिछले लोक सेवा आयोग की परीक्षा में उत्तीर्ण होने की सूचना थी। उसने सोचा अब उसे अच्छी सरकारी सर्विस मिल जायेगी। अब उसका आकाश दवाइयों के अभाव में मरणासन्न नहीं होगा। खुशी–खुशी जब वह आकाश के पास पहुँचती है तो उसे मृत पाती है। बाद में उसे सरकारी सर्विस प्राप्त होती है कथित पति सुरंजन को मौत के मुंह से बचाती है, किन्तु उसके भीतर का अलाव दहकता रहा है, जो एक मध्यम वर्गीय भारतीय नारी की नियति है–

''चार साल गुजर गये। अलाव दहकते रहे, अभी भी दहक रहें हैं। जिनका ताप मैं हर वक्त महसूस करती हूँ। मुझे लगता है एक अलाव मेरी मेज पर आकर सुलग रहा है, जिसका ईंधन फिर मुझे बनना होगा और जिसपर रिश्तों की रोटियां सेंकी जाती रहेंगीं।[1]

[1] सुधा गोयल, अलाव, पृ0 112

४.(क) महाभोज–मन्नू भण्डारी :

1979 में प्रकाशित मन्नू भण्डारी का उपन्यास समकालीन, राजनीतिक परिवेश का विद्रूप प्रस्तुत करता है। गरीब खेतिहर मजदूर और गाँव की निवासिनी अधिकांश जनता के निर्मम शोषण पर तुले राजनीति के दोगले अगुओं, उनके पिठ्ठूओं और चमचों का यथातथ्य चित्रांकन हुआ है। गरीबों के लिए झूठे आंसू बहाने में निपुण मगरमच्छनुमा नेताओं द्वारा लगाये खोखले नारों के पीछे के कुत्सित षड़यंत्रों और दमघोंटू स्थितियों का चित्रण कृति का मुख्य कथ्य है।

सरोहा गांव था हरिजन युवक बिसेसर की लाश को गिद्ध नोच–नोच कर खा जाते हैं। अन्य स्थितियां होती तो गरीब तो मरते ही रहते हैं। किन्तु यह समय राजनीतिक सरगर्मियों का है। विसेसर की लाश को लेकर सत्तापक्ष तथा प्रतिपक्ष को शतरंगी गोटें बिछाने का अवसर मिलता है। परिस्थिति की नजाकत को लेखिका ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"सच पूछा जाय तो बड़ा न आदमी होता है न घटना। यह तो बस मौके–मौके की बात होती है। मौका ही ऐसा आ पड़ा है। इस समय तो सरोहा में पत्ते का हिलना भी एक घटना की अहमियत रखता है। डेढ़ महीने बाद ही तो चुनाव है। यों उप–चुनाव विधान सभा की एक सीट भर का है। फिर भी है बहुत महत्वपूर्ण इस सीट के लिए भूतपूर्व मुख्यमंत्री सुकुल बाबू खुद खड़े हो रहे हैं।

सुकुल बाबू ने खड़े होकर ही इस चुनाव को इतना महत्वपूर्ण बना दिया है। सीट केवल एक, पर पूरे मंत्रिमण्डल के लिए जैसे एकदम निर्णायक। यही कारण है कि आज हर घटना को इस सीट से जोड़कर ही देखा–परखा जा रहा है। वरना और दिन होते तो क्या बिसू और क्या बिसू की मौत।[1]

सत्ता पक्ष के दा साहब के माध्यम से बाहर से सौम्य, समर्पित तथा अतिउदार तथा भीतर से मौकापरस्त काइयां नेता की समकालीन छबि नज़र आती है। सत्तापक्ष तथा प्रतिपक्ष के बीच प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुकोणीय संघर्ष सतत जारी रहता है। इन राजनेताओं को अराजक तत्वों और नौकरशाही के मनमाने प्रयोग से कोई नैतिक परहेज नहीं। वस्तुतः इस उपन्यास के कथ्य में भारत की समकालीन राजनीतिक परिस्थिति और उससे प्रभावित सम्पूर्ण परिवेश के कथ्यात्मक संदर्भ में युगीन यथार्थ उद्घाटित हुआ है।

---

[1] मन्नू भण्डारी, महाभोज, पृ0 9–10

४.(ख) आपका बंटी-मन्नू भण्डारी :

1979 में प्रकाशित मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' उपन्यास में भारतीय परिवेश से बंधी नारी और उसकी पारिवारिक स्थितियों से प्रभावित बच्चों की मनःस्थितियों का चित्रण है। शकुन और उसके प्रति अजय के बीच नर–नारी के अहं का अहं है। शकुन और अजय का बेटा बंटी इस समकालीन महानगरीय समस्या का संताप झेलने को विवश है। 'आपका बंटी' का लेखन एक नारी के द्वारा होने के कारण नारी की पीड़ा का अंकन सहजता से हो सका है। यह आन्तरिक पीड़ा जीवन के बदलते संदर्भो के साथ सामंजस्य स्थापित करने की अकुलाहट को लेकर है। आज की नारी अपने आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण अंहकारिणी अधिक होती जा रही है। इसी अहं को लेकर वह अपने साथ वाले पुरूष को हर घटना, हरस्थिति पर परास्त देखना चाहती है और पुरूष को परास्त करने की धुन में वह स्वयं अकेली असहाय सी अपने आप को कोसती रह जाती है। शकुन निजी अस्तित्व बोध को लेकर अधिक चैतन्य है। उसके जीवन में इसी अहं ने भारी विषमता उत्पन्न कर दी है। अजय स्वयं एक गुस्सैल और निरंकुश पुरूष है, जबकि शकुन 'डोमीनेटिंग नेचर' की होने के कारण उसकी हर क्रिया–प्रतिक्रिया को अपने से जोड़ कर देखती है। अजय और शकुन दोनो एक–दूसरे को परारस्त करने की धुन में अपने आपको परास्त हुआ पाते हैं। आदर्श और परम्परागत मूल्यों का खण्डन कर नये मूल्य एवं संदर्भ से जुड़ी शकुन स्वयं को दिग्भ्रमित पाती है।

अजय से हुए निरन्तर विरोध का परिणाम शकुन और अजय का 'तलाक' होता है तलाक के बाद दोनों ही अपने आप को नयी परिस्थितियों में सहज अनुभव करना चाहते हैं, किन्तु पुरूष की अपेक्षा नारी अपने आप को उतनी सुदृढ़ता से स्थापित नहीं कर पाती। सामने वाले को परास्त करने के लिए जैसा सायास और सन्नद्ध जीवन उसे जीना पड़ा उसने उसे खुद ही पराजित कर दिया। सामने वाला व्यक्ति तो पता नहीं कब का परिदृश्य से हट भी गया और वह आज तक उसी मुद्रा में, उसी स्थिति में खड़ी है– सांस रोके, दम साधे, घुटी–घुटी और कृत्रिम।[1]

कालेज की 'प्रिंसिपल' होने का संतोष शकुन को उतना नही है जितना अजय की सामाजिक स्थिति से स्वयं को ऊँचा उठा देने का है–सात वर्षो में विभागाध्यक्ष से प्रिंसिपल हो जाने के पीछे भी कहीं अपने को बढ़ाने से ज्यादा अजय को गिराने की आकांक्षा रही है। वह स्वयं कभी अपना लक्ष्य रही ही नहीं। एक अदृश्य अनजान सी चुनौती थी, जिसे उसने हर समय अपने सामने हवा में लटकता हुआ महसूस किया था, पर इतने पर भी जब सामने वाला नहीं टूटा तो उसकी सारी प्रगति अपने लिए ही जैसे निरर्थक हो उठी थी।[2]

---

[1] आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ0 38

[2] आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ0 279–280

आज की नारी का संकट, पुरूष के साथ बनते बिगड़ते सम्बन्धों को लेकर उपन्यास में प्रकट हुआ है। अजय से तलाक लेकर डॉ0 जोशी से पुनर्विवाह करके भी शकुन का अन्तर्मन कही रीता है। अपने रीतेपन में संतुलन स्थापित करने और परिवेश से जुड़ने की प्रयत्नशीलता उसकी मुख्य समस्या है। अजय के बाद डॉ0 जोशी को अपनाने से जो आत्मतुष्टि उसे चाहिए थी वह मिल नहीं पाती। सम्भवतः बंटी इसका कारण हो, क्योंकि वह शकुन की तरह डॉ0 जोशी के घर और उससे अपने सम्बन्ध को सहज स्वीकारोक्ति नहीं देता। उसके दैनिक उत्पात अन्दर ही अन्दर मथते रहते हैं शकुन को। बंटी अपने 'पापा' अजय से न मिल कर भी मिला हुआ पाता है और डॉ0 जोशी से मिलकर भी स्वयं को उनसे बहुत दूर महसूस करता है। शकुन बेटे और पति के बीच वात्सल्य और दाम्पत्य को लेकर कुढ़ती, जलती रहती है। समस्या का समाधान केवल बंटी को अपने से अलग करके ही हो जाता तो भी शकुन जी लेती, लेकिन बंटी को अजय के साथ भेजकर डॉ0 जोशी के साथ स्वतन्त्रता पूर्वक जीने की अनुमति परिस्थितिवश मिलने पर भी वह अपने आपको अकेली छत पर फूट–फूट कर रोता हुआ पाती है, वह स्वीकार करती है–

"अजय को पराजित करने के लिए जैसा सायास और सम्बद्ध जीवन उसे जीना पड़ा उसने स्वयं ही उसे पराजित कर दिया। अजय न जाने कब का परिदृश्य से हट भी गया और वह तब भी उसी मुद्रा में उसी स्थिति में खड़ी है,

सांस रोके, दम साधे, घुटी–घुटी और कृत्रिम।"[1] आत्मान्वेषण द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि सामने वाले पर दृष्टि रखने की अपेक्षा यदि वह स्वयं पर दृष्टि टिकाती तो सम्भवतः उसे इतनी मानसिकयन्त्रणा नहीं भोगनी पड़ती। तबसे वह स्वयं को लक्ष्य बनाकर जीने का उपक्रम करने लगती है।

अजय से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने के उपरान्त भी वह स्वयं को आश्वस्त नहीं पाती। अजय के साथ रहने की यन्त्रणा भी विकट है और अलगाव का संत्रास भी असहाय पीड़ा देता है। अलग रहकर भी वह शीत युद्ध कुछ समय तक जारी ही नहीं रहा बल्कि अनजाने ही अपनी जीत की सम्भावनाओं को एक नया संबल मिल गया था कि –"अलग रहकर ही शायद सही तरीके से अनुभव होगा कि सामने वाले को खोकर कुछ खो दिया है। दस वर्ष का यह विवाहित जीवन पर अंधेरी सुरंग में चले जाने के अनुभव से भिन्न न था। आज जैसे एकाएक वह उसके छोर पर आ पहुची है। पर आ पहुंचने का संतोष भी तो नहीं है। धकेल दिये जाने की विवश कचोट भर है पर कैसा है यह छोर ? न प्रकाश न खुलापन! न मुक्ति का अहसास लगता है, जैसे इस सुरंग ने उसे किसी दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड़ दिया है। फिर एक और यात्रा वैसा ही अंधकार, वैसा ही अकेलापन।"[2]

---

[1] आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ0 38

[2] आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ0 38–39

क्या शकुन स्वयं को अजय से मुक्त होना नहीं चाहती थी? तो फिर कैसा है यह दंश जो उसे भीतर ही भीतर खाये जा रहा है। आधुनिक नारी की यही विडम्बना है, जिसे शकुन भोगती है। एक ओर तो वह भविष्य का मनचाहा रूप संवारने की आकांक्षा रखती है, दूसरी ओर अतीत से वर्तमान का समुचित पार्थक्य उसकी सामर्थ्य सीमा में नहीं है। उसका अतीत उसके वर्तमान के अपनी सर्वग्रासी छाया से आच्छादित करता रहता है। वर्तमान की अस्थिरता उसके भविष्य को संदिग्ध बना देती है। शकुन की मानसिकता ऊहापोह किसी भी आधुनिक नारी के मन का प्रतिबिम्बन है। दुःखद अतीत का विस्मरण एवं सुखद भविष्य का वरण इन्हीं दो धुरियों के बीच उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य सबकुछ लड़खड़ा जाता है। वह अतीत से पूरी तरह विमुक्त होकर भविष्य को संवारने का दृढ़ संकल्प नहीं जुटा पाती।

इस प्रकार इस उपन्यास में एक ओर तो नारी की वेदना का मार्मिक रूपांकन है और दूसरी ओर आधुनिक जीवन के संदर्भों की कृत्रिमता और खोखलेपन को अति सूक्ष्मता से उजागर करना इसका प्रमुख कथ्य बनाया गया है। आधुनिक नारी के जीवन में व्याप्त रिक्ति, उदासी, खोखलापन और परिस्थितिजन्य विवशता के कारण भीतर ही भीतर टूटते चले जाने की नियति उपन्यास में व्यापक सामाजिक सदर्भों में अभिव्यक्त हुई है।

५.(क) डार से बिछुड़ी – कृष्णा सोबती :

कृष्णा सोबती का 1958 में प्रकाशित यह उपन्यास पंजाब की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। पाशो इसकी नायिका है। विभिन्न परिस्थितियों में नारी का विविध शोषण तथा उत्पीड़न की अभिव्यक्ति उपन्यास का प्रधान कथ्य है। पाशो कभी भी स्वयं को पुराने संस्कारों से अलग नहीं कर पाती। बदलती परिस्थितियों से समायोजन की तथा परिवर्तित मूल्यों को स्वीकार कर सकने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। उसकी माँ का चरित्र उसकी दृष्टि में संदिग्ध है। पाशो को माँ की चरित्रगत संदिग्धता के कारण न केवल अर्न्तग्लानि का शिकार होना पड़ता है, प्रत्युत अनेक भौतिक प्रताड़नायें भी सहनी पड़ती हैं। जब वह मानसिक द्वन्द्व से उबरने के लिए एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर जमना चाहती है, वहीं उसकी 'देह' कामुक पुरूषों की दृष्टि में आ जाती है। लाख सावधानी के बावजूद उसका यौन शोषण होता है। अनचाहे ही सही, जब एक बार यह सिलसिला शुरू होता है, तो फिर वह ठहरने का नाम नहीं लेता। प्यार के नकली मुखौटे लगाये दीवान जी, बरकत तथा मंगले एक के बाद एक उसके जीवन में आते हैं, किन्तु दैहिक भोग और मानसिक संताप के अतिरिक्त पाशो को उनसे ओर कुछ नहीं प्राप्त हो पाता था। यद्यपि वह कुचली दूब घास की तरह बार–बार हरियाने की कोशिश करती है किन्तु घास, घास ही होती है, नारी नारी। आशा और निराशा की अनेक सुरंगों से गुजरती पाशो की चेतना हर नये दिन नयी चोट से आहत होती है। इस उपन्यास का परिवेश मुसलमानों और अंग्रेजों के बीच चल रही जंग का है। इस जंग में

उसका दैहिक भोग करके उसके जीवन में प्रकाश की क्षीण संभावनायें उत्पन्न करने वाला प्रत्येक मर्द मौत का शिकार बन जाता हैं। नारी जीवन की दर्दनाक अनुभूतियों को अतिजीवत्ता से प्रस्तुत किया गया है। पाशों दर्द–दर–दर्द के मंजर पार करती हुई अन्ततः उस मुकाम पर पहुंचने में तो कामयाब हो जाती है जहां उसका परिवार होता है, किन्तु मान–सम्मान, सुख–सुहाग यहां तक कि बच्चा भी छिन जाने के बाद उसके पास क्या बचा होगा ? इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। परम्परा से जकड़ी पाशों के रूप में विविध शारीरिक और मानसिक यन्त्रणाओं की सजीव प्रस्तुति इस उपन्यास का कथ्य है।

५.(ख) मित्रो मरजानी–कृष्णा सोबती :

1969 में प्रकाशित कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजारी' उपन्यास 'मित्रो' नाम की नारी के उन्मुक्त व्यक्तित्व का चित्रांकन करता है। रूढ़ियो, परम्पराओं, बन्धनों, दबावों तथा अत्याचारों से क्षत–विक्षत नारी की सामाजिक यात्रा इस उपन्यास में ऐसे मुकाम पर पहुँची दिखाई पड़ती है, जहां उपर्युक्त विसंगतियों को नकार कर एक नारी मित्रा सभी सुखों का उन्मुक्त परिभोग करती है। उपन्यास में मित्रो का महिला दर्शन एक सम्य परिवार की बहू के रूप में होता है। अन्त कैदों में जकड़ी बहू की त्रासद जिन्दगी से मित्रो का सख्त नफरत है, उसका उन्मुक्त व्यक्तित्व उन दीवारों से कहीं अधिक ऊँचा और पारदर्शी है, जिन्हें परम्परावादी मूल्यों न तो रवीन्द्रनाथ टैगोर की अश्रुमयी नारी है और न शरद या जैनेन्द्र की विद्रोहिणी, बल्कि वह तो मांस मज्जा से बनी ऐसी नारी है जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, माँ बनने की लालसा भी और एक उद्धाम वासना सरिता भी उसे न किसी आदर्श का मोह है और न समाज तथा ईश्वर का भय। वह अपने जीवन का सम्पूर्ण सुखमय उपभोग करना चाहती है। सुख ही उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। वह हर उस चीज को चुनौती देती है जो उसकी सुख यात्रा में बाधक है। वह अपने व्यक्तित्व को निखरने नहीं देती। वह भारतीय नारी के समस्त पुराने बिम्बों को चुनौती देती है। सुख के वासनात्मक रूप से भी उसे परहेज नहीं।

६.(क) नरक दर नरक–ममता कालिया :

1975 में प्रकाशित ममता कालिया का उपन्यास 'नरक दर नरक' का कथ्यात्मक संदर्भ समकालीन परिवेश में मध्यमवर्ग की अनन्त पीड़ाओं तथा टूटन को अभिव्यक्ति देता है। जिन्दगी से जुड़ा प्रायः हर परिदृश्य आभाओं और ठोकरों से जुड़ा हुआ है। अभावजन्य असंतोष से पढ़े–लिखे पति–पत्नी परस्पर तर्क–वितर्क करते हैं, कोसते है, अधिक से अधिक 'पिन्चिंग' बात करते हैं, असंतोष का खुलासा इजहार करते हैं। निराशा और उत्साही उद्योग के द्वन्द्व से उपन्यास का कथानक भरपूर है। उपन्यास का नायक जगन (जोगेन्दर) और उषा प्रेम विवाह करते हैं। उषा के आदर्शवादी पिता उसे स्वाधीन तथा आत्मनिर्भर बनाने के सपने देखते रहे हैं। उषा का जीवन पिता के निर्देशानुसार यान्त्रिक अनुशासन से गतिमान है। यौवन की दहलीज पार करते ही उषा की अनुशासित यान्त्रिकता पुरूष की निकटता की संवेदना से सुवासित हो उठी। बम्बई में केड़िया कालेज के लेक्चरर जोगेन्दर साहनी के व्यक्तित्व ने कुछ ऐसा जादू किया कि उषा जिन्दगी की पूर्वनियोजित लक्ष्मण रेखाओं को पार कर श्रीमती उषा साहनी बन गयी।

''माँ'' झींकती, 'तुम उषा को कहीं का न रखोगे', पापा गर्व से कहते हैं–'मेरी उषा रोटियां नही बेलेगी, वह रसोई में पड़े–पड़े पीली नहीं होगी, वह इन्दिरा गाँधी बनेगी, विजय लक्ष्मी पण्डित बनेगी'। पर उषा जब न विजय लक्ष्मी पण्डित बनी और न इन्दिरा गाँधी बल्कि उषा साहनी बनने पर आमादा हो गयी

तो उसके पिता, पुनः 'मूषको भव' का खील भरा आशीष दे बिल्कुल पीछे हट गये।"[1]

जगन बहुत परिश्रमी और कर्तव्यपरायण प्राध्यापक है, छात्र उसके प्रशंसक है किन्तु यही गुण साथी प्राध्यापकों के लिए ईर्ष्या का विषय है–"हमेशा कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो आपको चैन से जीने नहीं देते, उसे लगा, उसने तो कभी उसे एक्जामिनरशिप भी नही मांगी, कभी फ्री पीरिएड के लिए भी नही झगड़ा, वह अठ्ठारह की जगह इक्कीस पीरिएड कर रहा है..........। इसकी सिर्फ एक वजह हो सकती है कि वह छात्रों में लोकप्रिय था।[2] सहकर्मियों के लिए जगन असहाय हो उठता है और प्रिंसपल सामंत उसे एक लिफाफा थमा देते है– "कार्यकारिणी समिति का यह संयुक्त निर्णय है कि केड़िया कॉलेज को अब आपकी सेवाओं की आवश्यकता नही है।"[3] इस दुष्काल में उषा और जगन के बीच कलह प्रारम्भ होती है। यहां तक कि तलाक तक की बात आ पहुँचती है– उसने ठंडी आवाज में कहा, अगर मुझे पता होता ये तीन सौ रूपये तुम्हारे लिए इतने बड़े हैं, तो मैं बहुत पहले सामन्त और शाह के तलुवे चाटना शुरू कर देता। तुमने, पता नहीं कैसे, मुझे यह इम्प्रेशन किया था कि तुम एक अलग किस्म की लड़की हो! 'तुम सोचते हो मैं रूपये के लिए लड़ रही हूँ ? तुम मुझसे बोल कैसे रहे हो ? ऐसे कोई नौकरों तक से नहीं बोलता।' उषा फूट कर रो पड़ी।

---

[1] ममता कालिया, नरक दर नरक, पृ0 11
[2] ममता कालिया, नरक दर नरक, पृ0 77
[3] ममता कालिया, नरक दर नरक, पृ0 107

x x x x x

जगन के चेहरे पर चुप्पी के साथ अन्तिम विचार सा प्रकट हुआ, मेरी गलतियों या उत्तेजनाओं की सजा तुम रो–रोकर भुगतो, यह मैं कभी नहीं चाहूँगा। तुम चाहो तो हम किसी वकील से सलाह कर सकते हैं।"[1]

x x x x x

बाद में दोनो पंजाब में जगन के माँ–बाप के यहां चले जाते हैं। फिर इलाहाबाद में एक प्रेस डाला जाता है। समस्या पर समस्या खड़ी होती रहती है। किसी तरह काम जमता है, तो चेहल्लुम के दिन मातमी जुलूस पर जगन उषा का बेटा बबलू अनजाने में पानी गिरा देता है। काफिरों की बेहूदा कारगुजारी समझकर मातमी भीड़ बलवाइयों में तब्दील हो जाती है। प्रेस और सब सामान जला दिया जाता है जगन भी घायल हो जाता है। बबलू को खोया समझकर उषा और जगन बेहद घबरा जाते हैं। काफी खोजने पर एक दयालु मुस्लिम महिला 'मझली बी' के यहां बबलू सुरक्षित सोया मिलता है। बलवाइयों से बचाने के लिए मझली बी ने उसे अपने यहां छिपा दिया था। उपन्यास का अन्तिम अंश मार्मिक 'टच' देता है इस प्रकार समाप्त होता है –"बड़ी मुश्किल से उषा कुर्सियों के औंधे ढेर और कागज के अम्बर पर पांव धरती ऊपर गयी। स्टील की आलमारी से उसने अपना पर्स उठाया, नीचे बड़े दरवाजे के बाहर तक स्याही के ड्रम, स्टूल, लैड वगैरह लुढ़के पड़े थे। अन्दर उनकी वर्षो की मेहनत का मलवा बना पड़ा था। लेकिन रिक्से में उषा और बबलू के साथ बैठते हुए जगन को लगा जैसे यह नुकसान उस उपलब्धि को देखते हुए कुछ भी नहीं है, जो इस वक्त उसके अगल–बगल बैठी है।"[2]

---

[1] ममता कालिया, नरक दर नरक, पृ0 205
[2] ममता कालिया, नरक दर नरक, पृ0 207

६.(ख) बेघर–ममता कालिया :

1971 में प्रकाशित ममता कालिया का 'बेघर' उपन्यास आधुनिकता और संस्कारवद्धता के बीच के तनाव को आधार बना कर लिखा गया है। उपन्यास की नायिकायें संजीवनी और रमा संस्कारों के दो छोरों को छूती नारियां हैं। संजीवनी जहां आधुनिक शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कारों में पली है, वहीं रमा औसत लड़कियों की तरह सामान्य परिवार शिक्षा और संस्कारों से जुड़ी है। इन दोनो के अतिरिक्त उपन्यास में विजया केलकर, केथी, अंकलेसरिया, माला शिन्द्रे, परमजीत की माँ, बहन, संजीवनी की माँ, भाभी तथा रमा की माँ व भाभी का संदर्भ भी दिया गया हैं। ये सभी नारी पात्र अलग–अलग स्थितियों तथा स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। संजीवनी के माध्यम से लेखिका ने आधुनिक कही जाने वाली उस नारी के संदर्भ को कथ्य बनाया है, जो विवाहपूर्व ही यौन सम्बन्धों को स्वीकार कर लेता है। संजीवनी परमजीत से प्रेम करती है, उसके सम्मोहक व्यक्तित्व और रूमानी वाग्जाल में फंसकर उसे अपना सर्वस्व समर्पण कर बैठती है, किन्तु इसका परिणाम घातक निकलता है। संभोग के क्षणों में परमजीत को उसके कुंवारी होने में शक हो जाता है। क्योंकि संभोग के समय रक्तस्राव अथवा चीख पुकार लड़की की तरफ से नही हुई, जो उसे कुवांरी प्रमाणित करने के लिए आवश्यक थे और वह संजीवनी को अपने जीवन से दूर फेंक देता है। संजीवनी शिक्षित है, बैंक में काम करती है। निराश होकर भी पलायनवाद प्रवृत्ति का शिकार नहीं होती वरन् परिस्थितियों से जूझते हुए उनसे ऊपर उठने में वह निरन्तर प्रयत्नशील भी है और

यथार्थ को समझने तथा आत्मस्वीकृति का उसमें साहस है। संजीवनी के माध्यम से आधुनिक स्वच्छन्द नारी के अन्तः तथा वर्हिपरिवेश को कथ्य बनाया गया है। बाद में वह रमा जैसी सामान्य शिक्षित तथा अंधविश्वासी नारी से विवाह करके अपने जीवन को नरक बना लेता है। पहले दर्जे की कंजूस और फूहड़ होने के साथ–साथ साधारण औरतों की तरह परायी औरतों को लेकर वह पति पर शक भी बहुत करती है। अपनी सास और ननदों के प्रति भी उसमें विशुद्ध औरतों वाला द्वेष हैं। सास के लिए स्वेटर बुनने की बात सुनकर पति को तुनक कर जवाब देती है–"क्यों आगे को ही, क्या कम दिया है जो अब और दूँ......। तुम्हारी माँ ने एक हाथ से सब कुछ उठा कर बेटी को थमा दिया। वह तो मैने उतारे हुए होते तो गहने के एक–दो सैट भी दे डालती। मैं कुछ नहीं सुनने वाली"।[1]

रमा का रहन–सहन, खान–पान का तरीका, पड़ोसियों से व्यवहार यहां तक कि अपने पति से भी उसका व्यवहार फूहड़ और कंजूसी से भरा है। शादी की पार्टी के लिए परमजीत अपनी पूर्व मकान मालकिन 'कैकी' को निमंत्रण देने जाता है साथ में रमा भी जाती है किन्तु 'मिस कैकी' की अस्वस्थता का समाचार उसे असंतुलित कर देता है और बिना सोचे समझे ही व्यंग करती है। "अरे पारसिन हैं। इन लोगों में शादी होनी ही मुश्किल है। अलग–अलग आदमियों से खाती पीती है। इसी लिए इतनी जल्दी बूढ़ी हो जाती है........ तुमसे अस्पताल अस्पताल क्या कह रही थी? इसने तुम्हें रखा था या तुम इसे रख रहे थे। क्यों गई

---

[1] ममता कालिया–बेघर, पृ0 169

थी यह अस्पताल?"[1] वह साल दर साल संतान पैदा करना अपना कर्तव्य मानती है वह भी लड़का। वेचारा परमजीत संजीवनी जैसी नारी को गवां कर बहुत बड़ी भूल कर चुका होता है और अब रमा के साथ जुड़ने के अलावा और कोई विकल्प नहीं खोज पाता। आधुनिक और स्वतन्त्र विचारों का परमजीत बेमेल विवाह के संत्रास में फंस कर तिल–तिल टूटता है। बेमेल विवाह की भयावह विसंगतियां इस उपन्यास का मुख्य कथ्य है। 'शादी के साल भर में उसे लगने लगा था, वह प्रौढ़ हो गया है। उसके दोस्त भी जैसे छिन गये थे। वह उनके यहां जाना चाहता था, पर अपने अन्दर पर्याप्त उत्साह नहीं पाता। उसकी जिन्दगी ऐसा दर्रा बन जायेगी। उसने नहीं सोचा था, उसे जगता वह स्टुपिड होता जा रहा है और एक बेडौल औरत उसकी चेतना पर हाथी की तरह सवार है। कम्पर्ट कम्पनी की चिन्तायें, घर का असंतोष अपना डिप्रेशन इन सबकी जगत से परमजीत को अक्सर नर्वसनेस हो जाती है।[2] अन्त में घर वाला होकर भी बेघर जैसा जीवन जीने वाला परमजीत का हृदयगति रूकने से कारूणिक अंत हो जाता है।

---

[1] ममता कालिया, बेघर, पृ0 169

[2] ममता कालिया, बेघर, पृ0 178

७.(क) कृष्णकली–शिवानी :

1969 में प्रकाशित शिवानी के उपन्यास 'कृष्णकली' में सूक्ष्म संवेदनशीलता के धरातल पर नारी का वास्तविक मन पूरी गहराई से अभिव्यक्त हुआ है। नारी मानसिकता को आन्तरिक तथा वाह्य धरातलों पर चित्रित करना उपन्यास का प्रमुख कथ्य है। अवचेतन की रहस्यात्मकता की थाह पाने की चेष्टा स्पष्ट विवक्षित है। इस उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र 'कली' का जन्म और परिवरिश–दोनों ही असामान्य तथा अस्वाभाविक परिस्थितियों में हुए। इसका कुप्रभाव कली के मानस पर पड़ना स्वाभाविक ही था। होश सम्भालते ही कली को अपने माता–पिता का परिचय इस रूप में मिलता है–

"छोकरी अपने को हूर समझती, इठलाती फिरती है। तेरा पिता है कोढ़ी और माँ है कोढ़िन, जाने किन गलियों में भीख मांगते फिर रहे होंगे। क्या पता यहीं मैना देवी के मंदिर के बाहर बैठी कोढ़ियो की पंगत में ही तुझे तेरा कोढ़ी पिता अंगुलियों के ढुंठ चमकाता मिल जाय या नन्दा देवी के मेलें में कोढियों की भीड़ में तुझे तेरी अंधी माँ ही दिख जाय।"[1]

माता–पिता दोनों कुष्ठ रोगी, पली चकले में और वेश्या का स्तनपान किया, इतना सब सोचते ही, कली का मन कभी अवसाद और करूणा से भर उठता था, तो कभी चित्र से उमड़ते तीव्र विद्रोह की तरंगे उसे उद्वेलित कर देती

---

[1] शिवानी, कृष्णकली, पृ0 65–66

थी। यही करूणा और विद्रोह कली के चरित्र को दो पहलुओं में बांट देता है। एक पहलू उसे एकदम दुर्दान्त, रूपगर्विता, चोर, उचक्की, तस्करी लड़की बना ड़ालता है तो दूसरा पहलू उसे प्यार की एक बूंद के लिए तरसती, सरल, स्नेहिल, निष्कपट किशोरी के रूप में दर्शाता है। कली के अतिरिक्त पार्वती, मुनीर, मणिक, पन्ना, वाणी, जया, माया, कुन्ती, रोजी, आंटी, विवियन तथा प्रवीर इस उपन्यास के अन्य पात्र हैं, जिनके माध्यम से नारी मन का अवचेतन कथ्यात्मक रूप धारण करता है।

जब कृष्णकली को पता चलता है कि पन्ना उसकी माँ नहीं है, तब वह माँ का घर छोड़कर माडलिंग करने लगती है और एक होटल में रिसेप्सनिस्ट बन जाती है। उसने हारना या झुकना नही सीखा है। हाँ वह टूट अवश्य जाती है। एक गुस्सैल किन्तु चरित्रवान और सुन्दर कुलीन युवक प्रवीर से वह प्रेम करने लगती है। समाज को ठुकरा कर प्रवीर उसे अपना नहीं सकता। विविध द्वन्द्वों से गुजरती कली को कैंसर हो जाता है। प्रवीर उसे देखने जाता है। प्रवीर के लौटने से पूर्व ही कृष्णकली स्लीपिंग पिल्स की पूरी गोलियां खा कर मरणासन्न हो जाती है और देखते ही देखते शान्त–

"मृत्यु सुनने में कितनी भयावह लगती है पर देखने में उतनी ही निरीह, स्वाभाविक। अभी वह थी और अभी नहीं। दोनों हाथ छाती पर धरे थे, अर्ध उन्मीलित बड़ी आंखें तो पहले भी ऐसे ही अधखुली कर सोती थी वह।"[1]

---

[1] शिवानी, कृष्णकली, पृ0 217–218

७.(ख) चौदह फेरे–शिवानी :

1972 में प्रकाशित शिवानी का उपन्यास 'चौदह फेरे' नारी के विविध संघर्षों तथा मानसिक यातनाओं के कथ्य को समेटे हुई है। उद्योगपति कर्नल (वास्तविक नाम शिवदत्त पाण्डे) की पत्नी नन्दी सुन्दर किन्तु धार्मिक विचारधारा की हैं। वैभव तथा विलासिता में डूब कर्नल अपने प्राइवेट सेक्रेटरी राखाल सरकार की पत्नी मल्लिका से दैहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। नन्दी जब पति गृह में पहली बार मल्लिका को देखती है तो उसे स्त्रीसुलभ सौतिया–डाह की यातना झेलनी पड़ती है–

"तो यही है मल्लिका सरकार, उसके विषय मे नन्दी बहुत सुन चुकी थी। पान दोख्ते से उसके विलासी अधर टुक–टुक लाल थे, काजल से आयत कर्णचुम्बी नयनों के कुटिल कटाक्ष बार–बार कर्नल को ही ढूंढ़ रहे थे। एकाएक नन्दी का चित्त खिन्न हो गया। संसार में कौन ऐसी पत्नी होगी, जिसका हृदय अपने पति के पार्श्व में बैठी सौत को देखकर खिन्न नही हो उठता"।[1] नन्दी की बेटी अहल्या को कर्नल पढ़ने के लिए मद्रास भेज देता है। बेटी से विछोह का दर्द नन्दी के लिए असह्य होता है। नन्दी अपने गुरूदेव के आश्रम चली जाती है और अहल्या पढ़–लिख कर 'माडर्न तथा स्मार्ट' तरूणी के रूप में उपन्यास की

---

[1] शिवानी, चौदह फेरे, पृ0 21

नायिका के रूप में प्रतिष्ठित होती है। लाख उद्योगपति, बिलासी और महानगरीय संस्कृति के आदी हो गये हो कर्नल, किन्तु उनका अपनी जन्मभूमि और पर्वतीय संस्कृति से मोह बना रहता है। वह अपनी सुन्दर बेटी अहल्या का विवाह उसके मित्रो रेक्सी, रौनेन तथा अन्य किसी विजातीय की बजाय किसी सजातीय पर्वतीय कुमार से करना चाहते हैं। एक शादी में शामिल होने वह अपनी बेटी के साथ अल्मोड़ा गये। इस यात्रा में लेखिका का मुख्य कथ्य पर्वतीय रीति–रिवाज तथा संस्कृति को प्रस्तुत करना है।

"एक ओर कई, नई रंगी पीली धोतियां सूख रही थीं, उन पर लाल–लाल बुंदकियां छापी गयी थी। जिनका गीला गुलेनार रंग छूटकर दरी पर भी लग गया था। दूसरी ओर एक लम्बे कपड़े पर गोल–गोल पूड़ियां सी बेल कर सुखा दी गयी थीं। 'कल असल में रंग्वाली थी न, इसी से कमरा इतना गंदा हो गया'–बसन्ती ने कमरे की गंदगी की कैफियत सी दी।

"रंग्वाली क्या कोई त्योहार होता है? 'अहल्या ने भोलेपन से पूछा– हाय राम, रंग्वाली नहीं जानती?' शादी के चार दिन पहले कह कर वह सहसा सकुचा कर चुप रह गयी।"[1] यहीं अहल्या का परिचय राजू नामक एक फौजी अफसर से होता है। दोनों के बीच अघोषित प्रेम का बीजारोपण हो जाता है। कर्नल के बहुत चाहने पर भी अहल्या सर्वेश्वर से विवाह नहीं करती। पिता पुत्री के

---

[1] शिवानी, चौदह फेरे, पृ0 46

बीच तनाव चरम बिन्दु तक पहुँच जाता है। पिता द्वारा उसकी सहमति के बिना विवाह निश्चित करने को अहल्या का अन्तर्मन स्वीकार नहीं कर पाता–"अहल्या का गला भर आया। पापा क्या एक बार आप मुझसे पूछ नहीं सकते थे।"[1] कर्नल अहल्या का विवाह सर्वेश्वर से करने को प्रतिबद्ध था। अन्त में अहल्या पिता के लिए एक पत्र लिख कर–"पापा मुझे क्षमा करें, मैं किसी भी तरह इस विवाह के लिए अपने चित्त को राजी नहीं कर पा रही हूँ, ढूढ़ने की चेस्टा न करें–अहल्या"[2] घर छोड़कर चली जाती है और अपनी चचेरी बहन बसन्ती उसके डाक्टर पति धरनीधर के सहयोग से बसन्ती के ममेरे भाई राजू से उसका विवाह हो जाता है। बसन्ती की नानी 'आमा' विक्षिप्त बृद्धा हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि उनके पौत्र राजू का विवाह अहल्या से पहले ही हो गया है। आमा से मत्थापच्ची से बचने के लिए कह दिया जाता है–"देखो दुश्मन की गोली से बचकर घर लौटा है राजू, दूसरा जन्म हुआ है। ऐसे में सब कर्म फिर मनाये जाते हैं। पहले जन्म दिवस मनाया, फिर जनेऊ हुआ, अब फिर उसी बहू से विवाह हो रहा है और एक बात है आमा, धरनीधर बड़ी नरम आवाज में कहता है–"बुरा मत मानना, पर तुम्हारी बहू भगोड़ी है। कहीं फिर न भाग जाय इसी से चौदह फेरे फिरवा दिये।"[3]

*

---

[1] शिवानी, चौदह फेरे, पृ0 124
[2] शिवानी, चौदह फेरे, पृ0 160
[3] शिवानी, चौदह फेरे, पृ0 165–166

चतुर्थ अध्याय

नारी उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी के विविधि रूप :

प्रागैतिहासिक काल से ही स्त्रियों ने पुरूष के आर्थिक कार्यो में किसी न किसी प्रकार का सहयोग अवश्य दिया रहा होगा। विकासक्रम में कृषि युग के आते–आते पुरूषों के साथ स्त्रियों का काम करना इस युग तक जारी है। युग परिवर्तन के साथ नारियों का कार्यक्षेत्र भी परिवर्तित हो गया। आर्थिक सुविधा की दृष्टि से समाज के पिछड़े वर्ग की स्त्रियां तो काफी समय से फैक्ट्रियों में श्रमिक के रूप में, घरेलू नौकरानियों के रूप में और अकुशल श्रमिक के रूप में काम करती रही हैं। इसके साथ ही साथ मध्यवर्ग तथा उच्चवर्ग की स्त्रियां भी घर से बाहर आकर परिवार की आर्थिक दशा सुधारने अथवा स्वयं के व्यक्तित्व का विकास करने की दृष्टि में तेजी से कदम बढ़ा रही हैं। पिछले लगभग 5 दशकों में मध्यवर्ग की कामकाजी स्त्रियों की संख्या में बेहद बृद्धि हुई है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व और उसके कुछ समय बाद तक भी मध्यवर्ग और उच्च वर्ग की स्त्रियां ज्यादातर अपने घर की चहारदीवारी में ही सीमित रहती थीं। इन वर्गो की किसी लड़की के लिए खासतौर से किसी विवाहित स्त्री के लिए घर से बाहर निकल कर कोई उपयोगी लाभदायक काम करना अपमानजनक समझा जाता था। केवल जबर्दस्त आर्थिक आवश्यकता या भयंकर आर्थिक संकट आ पड़ने पर ही समाज इसकी अनुमति देता था। इसी कारण जो स्त्रियां नौकरी करती थीं, उनके ऊपर लोग तरस खाते थे और उन्हें अभागी समझा जाता था। जब मध्यवर्ग की स्त्रियों ने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारणों से नौकरी करना शुरू किया तब भी उनसे यही

अपेक्षा की जाती थी कि वे ऐसी ही नौकरी या धन्धे में जायें, जिन्हें समाज उनके लिए सम्मान जनक मानता हो। आज नारी अपनी आर्थिक और मानसिक आवश्यकता के लिए पुरानी मान्यताओं को दर किनार करके विविध नौकरियों और आर्थिक संदर्भो से स्वयं को जोड़े हुए है। इसीलिए अब समाज में नारी के विविध रूप देखने को मिलते हैं, पहले वह सिर्फ माँ, पत्नी, बहन, बेटी अथवा पुत्री होती थी, बदलती परिस्थितियों में उसके रूपों में भी विविधता आ गयी है। अब यह भी सम्भव हो सका है कि एक ही नारी कई रूपों में दिखायी दे सके। नारी की एक पारिवारिक पहचान तो है ही उसे स्वयं से जोड़े हुए भी वह डाक्टर, प्रोफेसर, वकील, प्रशासनिक अधिकारी, जज, क्लर्क, विमान परिचायिका, गुप्तचर, अभिनेत्री, राजनेत्री के अतिरिक्त नकारात्मक रूपों जैसे वेश्या, सोसायटी गर्ल, चोर, दस्यु, भिखारिन इत्यादि में भी देखी जा सकती है।

हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप चित्रित किये गये हैं। सर्व प्रथम नारी के पारस्परिक और कदाचित अनिवार्य रूप गृहिणी से नारी रूपों की चर्चा का प्रारम्भ किया जाता है।

१. गृहिणी :

किसी परिवार की गृहिणी के बिना परिकल्पना नहीं की जा सकती। चाहे संयुक्त परिवार हो, चाहे व्यक्ति परिवार हो, गृहिणी की उपस्थिति तो होगी ही। सुव्यवस्थित, शान्त तथा संतुष्ट घरों में इस सुव्यवस्था का आधारभूत कारण गृहिणी को ही माना जाता है। यह एक मुहावरा है कि यदि गृहिणी सुखी तो घर सुखी तथा जैसी गृहिणी वैसा घर। हिन्दी उपन्यासों में गृहिणी के विविध रूपों का पर्याप्त चित्रण मिलता है।

आदर्श गृहिणी का चरित्राकंन समकालीन उपन्यासों में उतने ही महत्वपूर्ण ढ़ंग से हुआ है जितने महत्व के साथ आधुनिक भावबोध मण्डिता पत्नियों का चरित्रांकन हुआ है। नारी का परम्परागत महिमामयी, त्यागमयी और कल्याणकारिणी रूप ही जिन्हें भाता है, जिनका विश्वास है कि नारी अपने पवित्र एवं शुद्ध तथा त्यागपूर्ण आचरण से न केवल स्वयं सुखी एवं संतुष्ट रह सकती है बल्कि वह अपने चारों ओर के परिवेश को भी अपने दिव्य एवं नैसर्गिक उपादानों से स्वर्ग तुल्य बना सकती है, इन नारियों का गृहिणी रूप, पति एवं पति-परिवार को अपने स्नेह जल से निरन्तर सींचता है। स्वयं को तिल–तिल गलाकर भी यह नारियां पति और परिवार की मंगल ज्योति को अहर्निश ज्योतिर्मान रखती हैं। मंजुल भगत के उपन्यास 'तिरछी बौछार' की गृहिणी रत्ना का आत्म कथन उसे पारम्परिक भारतीय गृहिणी के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है।

"अगर वे तीन दिन से घर नही आये तो उनकी कोई लाचारी ही होगी, आखिर परिवार के लिए ही तो खटते रहते हैं। लेकिन यहां सब ठीक–ठाक तो चल ही रहा है। मैं काम रूकने ही क्यों दूंगी"[1] किन्तु कहीं–कहीं गृहिणी का अन्यायबोध उसे विद्रोह के लिए विवश कर देता है। आज हमारा समाज झूठे एवं दुहरे स्वरों व मापदण्डों को लेकर चल रहा है। यदि यह मान लिया जाय कि औरत का कर्तव्य घर का कार्य करना, बच्चे सम्हालना है तो निष्कर्ष यह निकलता है कि कमाना उसका कार्य नहीं लेकिन यदि महिला कमाती है, तो निश्चिय ही घरेलू कार्यो से कुछ हद तक मुक्ति की अधिकारिणी है। परन्तु भारतीय पुरूष घरेलू कार्य करने में अपनी हेठी समझता है 'एक इंच मुस्कान' में रंजना के माध्यम से व्यक्त मन्नू भण्डारी के विचार इस संदर्भ में दृष्टव्य है–"आपके भीतर वही पुराना सामन्त पति जिन्दा है, आप चाहते हैं कि पत्नी नौकरी करे ही साथ–साथ घर की देखभाल करे, नौकर से सिर मारे, कपड़े सम्हाले, बटन लगाये, बच्चे खिलाये.........फिर पति की पूरी–पूरी सेवा भी करे, उसका चौका चूल्हा करे, हाथ, पॉव दबाये, फिर भी पति को यही शिकायत कि न वह पति को देखती है और न घर को। अच्छा इतना ही नहीं पति को सारी छूटें है, वह दुनियाभर की खुराफातें करे, मटरगस्ती करे, दोस्तों में घूमे और अपने पर चाहे जितना खर्च करे"।[2]

---

[1] मंजुल भगत, तिरछी बौछार, पृ0 87

[2] मन्नू भण्डारी, राजेन्द्र यादव–एक इंच मुस्कान, पृ0 100

२. समाज सेविका :

नारी उपन्यासकारों ने नारी के समाज सेविका रूप का भी चित्रांकन किया है। वैसे भी यथार्थ जगत में विविध नारियों को सहज ही समाज सेवा करते देखा जा सकता है। जिस युग में मदर टेरेसा, मेधा पाटेकर तथा मेनका गाँधी जैसी समाज सेवी महिलायें हैं उस युग के उपन्यास ऐसी नारियों की मौजूदगी से वंचित कैसे रह सकते हैं। गैर पढ़ी लिखी जनता को अक्षर ज्ञान कराने, कानूनी सलाह देने, संकट में उनकी सहायता करने, सरकारी सहायता प्राप्त करने के उपाय बताने, विधवा तथा वृद्ध आश्रम चलाने आदि क्षेत्रों में अब नारियां भी अपनी भूमिका निर्वाह कर रही हैं। प्रतिभा सक्सेना के उपन्यास 'मैं तो हूँ' कि कुष्ठ आश्रम की संचालिका सावित्री का यह रूप नारी उपन्यासकारों की कृतियों में नारी के समाज सेवी रूप की बानगी पेश करता है– "भोलू यदि डॉ० परेश नहीं आ सकते आज तो किसी दूसरे डॉ० को बुलाओं कुछ मरीजों की हालत काफी खराब दिखायी पड़ रही है और हाँ जो दवाइयां कलकत्ते से मंगवाई गयी थी वे अभी तक क्यों नहीं आयी।"[1]

---

[1] प्रतिभा सक्सेना–मैं तो हूँ, पृ0 46

३. लेडी डॉक्टर :

डॉक्टर के रूप में नारी चित्रण नारी उपन्यासकारों की रचनाओं में बहुतायत से नही मिलता। तो भी उसके कुछ चित्र परिलक्षित हुए हैं। शिवानी की 'कृष्णकली' उपन्यास की रोजी को एक सफल और कुशल डाक्टर के रूप में चित्रांकित किया गया है। वह तन-मन-धन से कुष्ठ आश्रम के रोगियों की सेवा करती है। प्रत्येक रोगी के प्रति उसके मन में अपार करूणा और ममता है। सारा जीवन सेवा कार्य में समर्पित हो जाता है। डॉ रोजी अपने देश और परिवार से दूर भारत में प्रवासी के रूप में रहकर भी अपने कुष्ठ आश्रम को अपने देश परिवार से अधिक दया ममता और सेवा प्रदान करती है।

'रजिया कसीह सिद्दकी' के उपन्यास 'पैरों के छाले' की 'सबा' पति के तलाक हो ज़ाने के बाद फिर से पढ़ाई का सिलसिला आगे बढ़ाती है तो गरीबों की सेवा की ओर उन्मुख होकर ही वह डाक्टरी की पढ़ाई करने का निश्चय करती है।

४. नर्स :

नारी उपन्यासकारों की रचनाओं में नारी के नर्स रूप का चित्रण बहुत कम किया गया है। रजिया कसीह सिद्दकी के उपन्यास 'पैरों के छाले' की 'सबा' को डाक्टर बनने के सम्बन्ध में जानकारियां नर्स रूमा से मिलती है।

५. मजदूरिन :

सामान्यतः मजदूर वर्ग की स्त्रियों का ही विविधांकन आलोच्य वर्षों के उपन्यासों में प्राप्त होता है। मजदूर पेशा स्त्रियों का विश्लेषण करते समय भारतीय आर्थिक व्यवस्था को ध्यान में रखना अनिवार्य हो जाता है। भारतीय आर्थिक व्यवस्था की विशेषता रही है कि इसमें अमीर और अमीर तथा गरीब और गरीब होता रहा है। यद्यपि समाजवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था की मध्यम व्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था देश में अपनाने की सतत चेष्टा देश के नेताओं द्वारा की जाती रही है। तथापि आर्थिक दौड़ में आज भी भारत विकास की सामान्य सीढ़ी तक ही पहुँच पाया है।

जाति और वर्ग के आधार पर किया जाने वाला सामाजिक शोषण अब नारी के हृदय में आक्रोश को पनपा रहा है। उपन्यासों की अधिकतर स्त्रियों (मजदूर वर्ग की) को पति का बेहिसाब अत्याचार सहना पड़ता है। बदमियाँ, लाजो धोबिन, रामसिंह की स्त्री के पति शराबी और क्रूर ही नही जुआरी तथा कुटिल भी

है। वे स्वार्थ के वशीभूत होकर अपनी स्त्री को दूसरे पुरूष की अंकशायिनी बनने पर विवश करने से नही चूकते (बदमियाँ का पति)।

"गली आगे मुड़ती है" की "लाजो" ऐसे दाम्पत्य सम्बन्धों को ठुकराने की माँग करती हुई मुँह बिचका कर कहती है–" अइसे सास्तर पर थू–थू सारा सास्तर तिरिया के सतावे वास्ते बना है। मरद के हजार खून माफ, ओके छुट्टी कि ऊ चाहे त अपनी मेहरारू के कुत्ता की धांई झकझोरत है। आ औरत बदे सास्तर बोल देलेस कि ड्योढ़ी लांघब पाप है"।[1]

निम्न वर्गीय समाज और उच्चवर्गीय समाज में विवाह सम्बन्धों को लेकर नये मोड़ आ रहे है मजदूर पेशा स्त्री अपनी जाति या वर्ग को लेकर अब पारम्परिक हीन भावना से पीड़ित नही हैं, बल्कि सवर्ण जातियों में वैवाहिक सम्बन्धों की अपेक्षा वह अधिक दृढ़ता और बुद्धि परिपक्वता का परिचय देती हैं। जल टूटता हुआ, की जाति की कहारिन है बदमियां और प्रेम कुंजू तिवारी (ब्राह्मण) से करती है। उसकी संतान गर्भ में धारण करती है। पत्नी रूप में कुंजू तिवारी बदमियां को स्वीकार कर लेता हैं, अर्थात ऊँची–नीची जातियों में उभरते प्रेम सम्बन्धों एवं विवाह सम्बन्धों को नया मोड़ देने का श्रेय बहुत कुछ स्वाधीन वृत्ति की मजदूर पेशा स्त्री को दिया जा सकता है। प्रगतिशीलता के प्रति आग्रह तथा सामाजिक विसंगतियों के प्रति आक्रोश मजदूर नारी लवॅगी के उद्‌गारों में 'जल टूटता हुआ' में दिखायी देता है– "क्या हुआ अगर मेरे भाई ने ब्राह्मण की लड़की

---

[1] शिव प्रसाद सिंह–गली आगे मुड़ती है, पृ0 194

से उरबिला किया। चमार का खून खून नही है। ब्राह्मण का खून ही खून है। हमारी कोई इज्जत नहीं होती, क्या ब्राह्मणों की इज्जत ही इज्जत होती है। जब चमरौटी की तमाम लड़कियों पर ये बाबा लोग हाथ साफ करते है तो कोई परलय नही आती और कोई चमार ब्राह्मण की लड़की को छू भर दे तो परलय आ जाती है। हरिजनों के नेताजी, मैं तो तुमसे फरियाद करती हूँ कि वोट लेने वाले नेताओं से कहो कि हमारा खून जब खून नही तो हमारे वोट ही वोट क्यों है"।[1]

(आपका बंटी) फूफी, (दो) की दाई माँ, नीमा, (मुर्गीखाना) की मन्नों, (तेरी मेरी उसकी बात) की बेवे, (गली आगे मुड़ती है) की लाजो, ... घरेलू आया या नौकरानी का कार्य करती हैं। इनमें नीमा, बेवे और फूफी उच्च जाति तथा संस्कारों की स्त्रियां होने के कारण जिस घर में नौकरी करती हैं उस घर के सदस्य की भाँति अपनापन पाती हैं। क्योंकि अपने परिश्रम, ममता एवं त्याग से मालिक अथवा मालकिन का भरपूर विश्वास उन्हें मिलता है। मन्नों गरीब घर की युवती है जिसके घर में कई भाई–बहन तथा बीमार माता–पिता है। उसे अपनी नौकरी बनाये रखने के लिए मालकिन शीला की हर उचित–अनुचित मॉग को स्वीकार करना पड़ता है। जबकि नीमा जिस घर में नौकरी करती है, उसकी मालकिन द्वारा एक बार अपमानित होने पर दुबारा वहां नही जाती। भले ही फिर उसे दर–दर भटकना पड़ता है। फूफी (आपका बंटी) शकुन और अजय (पति–पत्नी) के टूटते दाम्पत्य सम्बन्धों से दुःखी होकर काशी चली जाती हैं जब तक घर में रहती है, घर जैसा आदर और अपनापन पाती है। बेवे (तेरी मेरी

---

[1] रामदरस मिश्र–जल टूटता हुआ, प0 353

उसकी बात) अपनी सेवा के बल पर ही पराये घर में आदर और प्यार पाती है। लाजो (गली आगे मुड़ती है) हरिमंगल जैसे क्रान्तिकारी युवक की जी जान से सेवा करती है। यह नौकरानी न रहकर उसकी उपकारकर्त्ती सिद्ध होती है। इनमें वहीं स्त्रियां है जो स्त्रियों के अधीनस्थ ही कार्य करती है, पुरूषों के अधीनस्थ नहीं। पुरूषों के अधीन होकर इन्हें अधिक कठिनाइयों एवं यातनाओं को झेलना पड़ता है।

६. खेतिहर महिलायें :

उपन्यासों में उपन्यासकारों ने गहरी रूचि के साथ मजदूरिन महिलाओं का अंकन तो किया है, जिसमें धनेसरी बुढ़िया, दुलरिया (अलग–अलग बैतरणी), बदमियां, लवंगी, फुलवा डलवा तथा महाबल की पत्नी (जल टूटता हुआ), प्रीतो, पाशो, लच्छो (धरती धन न अपना), राम सिंह की स्त्री (नदी और सीपियाँ) धोबिन (पैरों के छाले), दाइयाँ (दो) ऐसी स्त्रियां है जो मजदूरी और परिश्रम के बल पर अपनी रोजी रोटी पाती है। खेतिहर महिलाओं का पृथक से कोई चित्रण इन उपन्यासों में प्रायः नहीं के बराबर हुआ है।

७. वेश्या :

आधुनिक उपन्यासों के उपन्यासकारों ने वेश्या या कालगर्ल के रूप में नारी का अंकन परम्परागत ढ़ंग से हटकर किया है। अब कला और संगीत की अधिष्ठात्री के रूप में अथवा समाज के कलंक के रूप में नारी का यह रूप कम ही देखने को मिलता है। सामान्यतः उपन्यासकारों की सहानुभूति ही इस वर्ग की नारियों को मिली है। उसका कारण यह है कि कोई भी स्त्री स्वेच्छा से वेश्या नहीं बनना चाहती । सामाजिक परिस्थितियाँ उन्हें इस राह पर ले जाती है। आज स्थिति यह है कि आर्थिक समस्यायें विकराल रूप धारण करती जा रहीं हैं। अतः उनकी सम्पूर्ति में पुरूष और नारी दोनों ही संलग्न हैं। नारी की आर्थिक आवश्यकता अनिवार्यता बन जातीं है तो वह विवशता की स्थिति में शरीर व्यापार द्वारा ही अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करतीं हैं। (डाक बंगला) की शीला, (सीमाएं टूटती) की जूली, (मेरी तेरी उसकी बात) की हंसा इस वर्ग की नारियां है जो आर्थिक विवशता में अपना शरीर जिस–तिस को सौंपती हैं, किन्तु जिसके साथ इनका शारीरिक सम्बन्ध बनता है, मन से भी उसके प्रति ईमानदार रहने का प्रयत्न इनके चरित्र में मिलता है। अतः ये घृणा की अपेक्षा दया और करूणा की पात्र ही अधिक हैं। हाँ कुछ अत्याधुनिकाएं अपनी भौतिक वासना सम्पूर्ति के लिए शौक के रूप में यह पेशा अपनाती हैं। उनका स्वरूप अवश्य ही विकृति सूचक है। 'जल टूटता हुआ' की डालवा, फुलवा, 'धरती धन न अपना' की प्रीती, पाशो,लच्छो, 'गली आगे मुड़ती है' की सुप्रिया, शैल, मनचन्दा, 'बेघर' की

मिस केलकर तथा 'टेराकोटा' की मिस बाटलीवाली, लिली आदि अपनी शारीरिक वासना की पूर्ति के लिए ही पतनोन्मुख होती हैं।

आर्थिक दासता नारी को विभिन्न क्षेत्रों में हीनता का अनुभव कराती हैं। यहीं पराधीनता उसे वेश्या बनने में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देती है। वह वेश्या बनती भी है तो भी उसकी स्वतन्त्र अन्तश्चेतना उससे छूट कर नहीं जाती। 'कृष्णकली' की कली में अभ्यांतर संश्लिष्टता का सर्वधा आभाव है आरम्भ में कोढ़ी माता–पिता की संतान तथा वेश्या के कोठे पर पली होने के कारण लांछना उसमें विद्रोह भर देती है। वह समाज के विपरीत कठोर और दुस्साहसी कारनामें करती है।

८. सोसाइटी गर्ल :

अनुसंध्य नारी उपन्यासकारों की कृतियों में सोसाइटी गर्ल का चरित्र अनुसंधान के दौरान उपलब्ध नहीं हुआ। लगता है कि महिला उपन्यासकारों की दृष्टि में सोसाइटी गर्ल इतनी महत्वपूर्ण नहीं, जितना सामाजिक संदर्भो में उसकी महत्ता होनी चाहिए। वैसे आज के महानगरीय समाज में यह एक चर्चित चरित्र है।

६. अभिनेत्री :

समकालीन जीवन चलचित्र की चकाचौंध से परिपूर्ण है। दूरदर्शन प्रत्येक घर की पहुँच के अन्तर्गत आ गया है। प्रभाव स्वरूप समाज में सिने नायक–नायिकाओं तथा दूरदर्शन में प्रसारित विविध चैनल्स् के प्रभावशाली चरित्रों के प्रति सहज आकर्षित है। नारी लेखिकाओं के उपन्यासों में इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, यों तो कथानक के अन्तर्गत किसी सिनेमा हाल में जाकर किसी फिल्म की चर्चा सामान्य बात है जैसे ममता कालिया के उपन्यास 'नरक–दर–नरक' की नायिका जानवर फिल्म देखने जाती है। 'फिल्म देखकर वह महसूस करती है''कि फिल्म 'जानवर' का नायक जिसका किरदार 'शम्मीकपूर' ने निभाया है। मुझे अपनी उछल–कूद और अनाप–सनाप बेढंगें अंग संचालन के कारण नायक का पशु संस्करण लगा। हाँ नायिका की भूमिका में राजश्री 'लाल छड़ी मैदान गड़ी' गाने के दौरान लाल परिधान में सुन्दर तथा सम्वेदनशील लगीं'[1]

शुभा वर्मा के उपन्यास 'फ्रीलांसर' में फिल्म तारिका नेहा का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। नेहा बचपन से ही सिनेमा की दीवानी थी और एक दिन वह सब कुछ छोड़कर मुम्बई भाग जाती है। मुम्बई में उसे धक्के पर धक्के खाने पड़ते हैं। उसकी विवसता का सभी लाभ उठाना

---

[1] ममता कालिया, नरक–दर–नरक, पृ0 65

चाहते हैं, अन्त में सिनेमा फोटोग्राफर रजनीश देवधर उसका परिचय प्रसिद्ध फिल्म निर्देशक राजा भण्डारी से कराते हैं। राजा भण्डारी को लड़की जँच जाती है। सबसे पहले तो वह नेहा का नाम जो अब तक सुन्दरी था उसे बदलकर नेहा कर देते हैं। यद्यपि नेहा यहां भी दैहिक शोषण से मुक्त नही हो पाती, किन्तु डायरेक्टर देवधर फिल्म 'फुलझरी' में नायिका की भूमिका दिला देते हैं।नेहा अपने मित्र नरेश राजवंश से कहती है–"मि0 राजवंश यहां कुछ भी कीमत चुकाये नहीं मिलता, मैं मानती हूँ कि इस मुकाम तक पहुँचने पर मुझे बार–बार 'काम्प्रो' करने पड़े हैं लेकिन बिना समझौते के पति के घर में भी गुजारा कहां होता है"।[1]

[1] शुभा वर्मा, फ्रीलांसर, पृ0 186

१०. राजनेत्री :

आज के जीवन में आम आदमी प्रतिदिन राजनीति के विविध रूपों का साक्षात्कार करता है। कोई न कोई जनसभा, आन्दोलन, चुनाव, उपचुनाव, रैली, धरना, घिराव, अनशन, आमरण-अनशन आदि रोजमर्रा की जिन्दगी का एक हिस्सा बन गये हैं। परिवेशगत इस यथार्थ को महिला उपन्यासकारों ने यद्यपि बहुधा सांकेतिक परिदृश्यों के माध्यम से व्यक्त किया है। किन्तु यदा–कदा राजनेत्री के रूप में भी ऐसे चरित्रों का परिदर्शन भी हो जाता है। निरूपमा सेवती के उपन्यास 'दहकन के पार' में सामाजिक संदर्भो से उपजा राजनेत्री का चरित्र 'तुषार' के रूप में परिलक्षित होता है। वस्तुतः उच्चवर्ग सदैव अपने को विशेष मानव मानता हैं ऐसे में वह अपने से निम्न वर्ग को हीन दृष्टि से देखता है। उसकी मनोवृत्ति अधिक से अधिक सुविधा और अधिकार प्राप्ति करने की होती है। वह चाहता है कि उसके पास सुख के सभी साधन संचित हो जायें, परिणाम स्वरूप वह अत्याचार करता है। वह चाहता है कि समाज में अन्य सब उसके अहं तथा सुख के लिए समर्पित हो जाये। उसकी प्रवृत्ति शोषण की होती है। वह मानवीय 'श्रम' को पूँजी के सहारे क्रय करने का प्रयास करता है। 'दहकन के पार' की नायिका 'तुषार' एक राजनेत्री के रूप में समाजवादी विचार–धारा का सम्पोषण करती है, वह पूँजीवादियों के प्रति तीव्र आक्रोश व्यक्त करती हुई कहती है–

''मुझे 'शोई पार्टियों' में जाना कभी अच्छा नही लगता रहा''

''पता नही। शायद इसीलिए ऐसा रहा हो कि मुझे हमेशा से चिढ़ रही उन बातों से जो पूँजीपतिंयों की शोबाजी से जुड़ी होती हैं.........''

''और बातें अच्छी लगती है, यदि जनता ने साथ दिया तो मैं शोषण मुक्त समाज बना कर दिखा दूंगी।''[1]

*

[1] निरूपमा सोवती, दहकन के पार, पृ0 56

पंचम अध्याय

(१) समकालीन उपन्यासों में चित्रित नारी के रूपों की वहिरंग प्रासंगिकता :

विगत चार दशकों की अवधि में भारतीय जन जीवन में विकास के कई चरण पूरे कर लिए हैं यह विकासमान प्रक्रिया एक ओर आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में गतिशील है तो दूसरी ओर सामाजिक ढांचे को काफी कुछ बदलने की दिशा में भी इसकी प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। संयुक्त प्रथा परिवार का रूप परिवर्तन संक्षिप्त परिवारों अथवा व्यक्ति परिवारों में हुआ और पति–पत्नी तथा उसके दो या तीन बच्चों को लेकर ही सामान्य और सुखी परिवार की कल्पना की जाने लगी, परिणामतः पारिवारिक समस्याओं में यदि संयुक्त परिवारों की समस्यायें न होकर पति–पत्नी के दाम्पत्य सम्बन्धों को लेकर या माता पिता या संतान को लेकर ही अधिक समस्याओं का अन्वेषण किया जाने लगा है। समस्या के समाधान या प्रभाव ही सामूहिक रहकर व्यक्तिनिष्ठ होते रहे हैं।

सामाजिक क्षेत्र में भी व्यक्ति परिवारों का सीधा प्रभाव पड़ा और नारी पुरूष दोनों ही स्वयं को पहले की अपेक्षा अधिक सक्षम और स्वतन्त्र अनुभव करने लगे। नारी का कार्यक्षेत्र घर के अतिरिक्त बाहर भी बढ़ गया तथा वह एक गृहिणी, माँ अथवा बहन की परिधि से निकलकर स्वावलम्बन की दिशा में उन्मुख स्वतन्त्र व्यक्तित्व की पहचान कराने लगी। मध्यवर्गीय नारी विशेष रूप से इस परिवर्तन से प्रभावित हुई। निम्न वर्ग की नारी इनकी तुलना में पहले भी स्वतन्त्र और स्वावलम्बी थी, हाँ उनकी चेतना का परिष्कार अवश्य ही विविध धरातलों पर देखने को मिलता है, जो परिवर्तन का ही परिणाम कहा जा सकता है। अब उनमें एक बौद्धिक तेजस्विता का स्वाभिमान घर करता परिलक्षित होता है।

नारी उपन्यासों मे चित्रित नारी के विविध रूपों की वहिरंग प्रासंगिकता का विश्लेषण करने के लिए हमं उसे परिवार और समाज के परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित विविध संदर्भो में देखेंगे।.यह संदर्भ निम्न रूपों में हो सकते हैं :–

नारी :

युवती तथा वृद्धा के रूप में नारी अपने दायित्यों का निर्वाह करती हैं तथा समय–समम पर उसके विविध रूपों का दर्शन होता है।

क. युवती के रूप में :

नारी को अनेक संदर्भो में उपन्यासों में चर्चित किया गया है। जैसे– विवाहिता के संदर्भ में पत्नी, प्रेमिका, विधवा, भाभी, माता अविवाहिता के संदर्भ में, प्रेमिका, बहन, कालगर्ल, रखैल।

ख. वृद्धा के रूप में :

माँ, धाय, आया, के रूप में करूणा एवं ममता से परिपूर्ण नारियों का चित्रण है। कहीं–कहीं यह वर्ग कुण्ठाग्रस्त स्त्रियों के रूप में भी चित्रित किया गया है।

क. युवती का (विवाहिता के संदर्भ में) :

१. पत्नी :

नारी का पत्नी रूप प्रमुखतः चार रूपों में इन उपन्यासों में देखने को मिलता है –

अ. पतिपरायणा साध्वी पत्नियाँ :

पतिपरायणा साध्वी पत्नियों का चरित्रांकन उपन्यासों में उतने ही महत्वपूर्ण ढ़ंग से किया गया है जितने महत्व के साथ आधुनिक भावबोध मण्डिता पत्नियों का चरित्रांकन हुआ है। क्योंकि आज भी साहित्यकारों की प्रतिष्ठित और समाजवादी दृष्टिविधायिनी पीढ़ी है, जो नारी को घर और परिवार का मूल आधार मानती है। नारी का परम्परागत महिमामयी, त्यागमयी, कल्याणकारिणी रूप ही, जिन्हें भाता है, इनका विश्वास है कि नारी अपने पवित्र एवं शुद्ध तथा त्यागपूर्ण आचरण से न केवल स्वयं सुखी एवं संतुष्ट रह सकती है, बल्कि वह अपने चारों ओर के परिवेश को अपने दिव्य एवं नैसर्गिक उपादानों से स्वर्ग तुल्य बना सकती है। स्वयं को तिल–तिल गलाकर भी ये नारियां पति और परिवार को अपने स्नेह जल से निरंतर सींचती है। स्वयं और परिवार की मंगल ज्योति को अहर्निश ज्योतिर्मान रखती है।

'अलग–अलग वैतरणी' की कलियां (तारा) पति बुझारत सिंह की अनेक ज्यादतियां बर्दास्त करती हुई उसके परिवार को खण्डित होने से बचाती है। पति के दुश्चरित्र होने का ज्ञान होने पर वह चुप होकर नियति का खेल सहती है। इसी प्रकार 'कालाजल' की बब्बन की अमुनी की आंखों के सामने पति दूसरी स्त्रियों से अपनी सेज सजाता रहता है। घर में बच्चों और विवाहिता स्त्री को घोर दरिद्रता का जीवन देकर जो स्वयं मौज मस्ती करता हो, उसे भी वह कर्तव्य मानकर झेलती हैं।

'मेरी तेरी उसकी बात' की अमरो दैहिक दृष्टि से असुन्दर होकर भी अपने कर्तव्य और त्याग की भावना से पति के टूटते पारिवारिक सम्बन्धों को फिर से स्नेहसूत्र में बांध देती है। स्वयं पति सेठ रतन लाल उसके पतिव्रत के आगे नतसिर हो अपनी प्रेयसी हिंसा को भूलने लगता है।

ब. अस्तित्ववादी दर्शनानुसार व्यक्ति आचरण करने वाली पत्नियाँ :

साम्प्रतिक उपन्यासों में विवाहित नारियों में आधुनिक भावबोध को गहराई से पिरोया गया है। आज की नारी विवाह और पति का अर्थ केवल जीवनोत्सर्ग ही नही मानती बल्कि वह चाहती है कि पति और पति के परिवार से उसे समता और स्नेहका व्यवहार उतना ही मिले जितना की उससे पति और परिवार आशा करता है। नारी में त्याग, ममता और सहिष्णुता क कमी आ गई है, ऐसा भी आशय इस प्रकार के नारी चरित्रों से नही लिया जाना चाहिए, बल्कि उसका समुचित विकास और उपभोग तभी हो सकता है जबकि पति की ओर से पूरा विश्वास, निष्ठा, कर्तव्यशीलता तथा सहयोग और सामजस्य की स्तुतियां प्राप्त होती है। यदि पति अनावश्यक रूप में पत्नी को संत्रस्त करना चाहता है अथवा उसका शारीरिक व मानसिक शोषण करना चाहता है तो उसकी प्रबुद्ध पत्नी उसे शांत भाव से सहती नहीं जायेगी, बल्कि उसका तीव्र विरोध करेगी। यही नही समय पड़ने पर वह पति की क्रूरता और निष्ठुरता का प्रतिकार उतने ही तीखे रूप में देगी। अब उसका स्पष्ट मत है यदि पुरूष एकाधिक स्त्रियों से यौन सम्बन्ध बना सकता है, तो उसे पत्नी को पातिव्रत धर्म सिखाने का कोई अधिकार नही मिलना चाहिए।"[1]

यदि पति नारी को केवल वासना की पूर्ति का साधन बनाता है तो भी वह शारीरिक और मानसिक रूप से उसे सहने के लिए तैयार नही। ऐसी

---

[1] डॉ0 विमला शर्मा, नारी चेतन आरोह, पृ0 47

स्थिति से वह उसका परित्याग उसी साहस और सहजता से कर सकती है। जितना कि पुरूष किसी भी अनचाही स्त्री को त्यागने में स्वतन्त्र है। पति यदि पत्नी को सामाजिक सुरक्षा, शारीरिक संतुष्टि और मानसिक परितोष नहीं दे पाता तो नारी स्वयं को इस बात के लिए अधिकृत मानने लगी है कि ऐसे पति की भक्ति करने को उसे वाध्य नही किया जा सकता। अपनी इच्छानुसार अपने मनोनुकूल जीवन साथी के चुनाव की उसे स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इस विचारधारा के ही आधार पर विवाह जैसी संस्था से उठता विश्वास आज की नारी की मानसिकता बनता जा रहा है।[1]

---

[1] डॉ0 देवकी कमल ओझा, नारी संचेतना, पृ0 23

स. परित्यक्तायें :

पुरूष प्रधान समाज की रचना होने के कारण भारतीय नारी के दाम्पत्य जीवन का स्थायित्व और अस्थायित्व आज भी पुरूष के ही हाथों में हैं। पुरूष जब चाहे तब नारी को जीवन साथी या सहचरी के रूप में अपनाये। जब चाहे उसे त्याग कर अन्य दिशा में गतिमान हो जाये। इसके लिए वह सामाजिक और नैतिक रूप से स्वयं को स्वतंत्र मानता है। नारी आज भी परम्परागत मान्यताओं को झुठलाने का साहस बहुत कम कर पाती है। पुरूष द्वारा पत्नी का परित्याग अनेक कारणों से हो सकता है। कभी वह पर नारी की ओर अनुरक्त होकर पत्नी को भुला देता है तो कभी धार्मिक और नैतिक आडम्बरों में उलझकर उसे पत्नी का साथ छोड़ना पड़ता है। कहीं पर पत्नी की स्वच्छंदवृत्ति उसके पौरूषेय अहं को ठेस पहुंचाती है और वह उसका प्रतिकार स्त्री को अकेला छोड़कर करता है। वाह्य रूप में पुरूष कितना ही प्रगतिवादी उदार मन बनने का आडम्बर रचता रहे, किन्तु आन्तरिक रूप में आज भी वह नारी को स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रति सजग देखना नहीं चाहता।[1]

'पुनर्नवा' की मृणाल, 'पैरों के छाले' की सबा तथा 'दण्ड द्वीप' की विमला का परित्याग पति इसीलिए कर देते है कि वे किसी अन्य नारी के मोहपाश में आबद्ध हो जाते हैं। 'पुनर्नवा' की मृणाल तो अपनी आत्मत्यागी प्रवृत्ति के कारण पति और सपत्नी को एक साथ स्वीकार कर लेती है किन्तु सबा और विमला पति

---

[1] डॉ0 शैलजा अस्थाना, पुरुष का अहं और नारी की अस्मिता, पृ0 53

को एक बार खोकर पुनः उन्हें प्राप्त नही कर पाती। इसका कारण उनका अपना अहं और स्वाभिमान रहता है।

'एक इंच मुस्कान' की अमला, 'आपका बंटी' की शकुन, 'गली आगे मुड़ती है' की आरती 'प्रेम अपवित्र नदी' की शिवानी, 'उसका शहर' की नीरा, 'दूसरी बार' की बिन्दु आदि नारियां पति के साथ मानसिक सामजस्य न बिठा पाने के कारण उनके द्वारा परित्यक्त होती हैं।

द. यौन अतृप्त, पीड़िता, ईर्ष्यालु, कलह-प्रिय पत्नियाँ :

जीवन की अन्य आवश्यकताओं के समान ही काम तथा प्रेम ही जीवन की अनिवार्य आवश्यकतायें है। फ्रायड जैसे विचारक ने सैक्स को अन्य आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण माना है–"पराये पुरूष का भूत इस प्रकार सवार था कि वह मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्यु तक मात्र सैक्स संचालित पुतला मानता रहा मानव की सारी विकृतियों और स्वीकृतियों में मूड में उसे केवल सैक्स ही दिखाई देता रहा। "सैक्स दाउ आर्ट टू सैक्स रिटर्न नेस्ट",मनुष्य के लिए यही न रहा वह अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक लगाता रहा.......चाहे जो हो इतना अवश्य है कि मानव मन व्यक्तित्व तथा संस्कृति के विकास में सैक्स की बड़ी भूमिका है।"[1]

समकालीन उपन्यासों में ऐसी पत्नियों का चरित्रांकन बहुतायत से किया गया है जो यौन अतृप्ति के कारण असाधारण आचरण करने लगती है। उनमें कुण्ठा, निराशा और चिड़चिड़ाहट आ जाती है। यौन परितृप्ति के लिए इनका आचरण कभी–कभी सीमा का अतिक्रमण करने लगता है। तब नैतिकता, अनैनिकता का प्रश्न इनके सामने नही ठहर पाता। यह यौन अतृप्ति का भी तो पति के नपुंषक होने के कारण होती है। कभी पति के सक्षम होने के उपरान्त भी पति द्वारा पत्नी की यौन उपेक्षा की दशा में भी पत्नी मेंयह अभाव कुण्ठा पनप सकती है। कारण कोई भी हो इसका दुष्परिणाम पति–पत्नी तथा परिवार के अन्य

[1] डॉ0 धनराज मानधाने, हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास, पृ0 73

सदस्यों को भी भोगना पड़ता है। यहां तक कि बच्चे भी इस दुष्परिणाम से अछूते नही रह पाते। 'कृष्णकली' की जया 'बेघर' की रमा, 'टेरा कोटा' की मि0 खन्ना, 'दण्ड द्वीप' की विमला, 'तेरी मेरी उसकी बात' की दोती आदि ऐसी स्त्रियां है। जिनके पतियों का आचरण उनके इच्छानुकूल न होने के कारण या तो वे अतृप्ति का अनुभव करती है या पति की अति व्यस्तता के कारण वे यह अनुभव करती है कि शारीरिक और मानसिकता के कारण उसकी तृप्ति नही हो पाती है। परिणामतः उनमें चिड़चिड़ाहट, खीझ और ईर्ष्या का भाव घर कर जाता है। मिसेज खन्ना तो पति की उपेक्षा के कारण आत्म हत्या कर मासूम बच्चों को अनाथ कर जाती है, रत्ना अपने कलह और चिड़चिड़ाहट से पति परमजीत की अकाल मृत्यु का कारण बनती है। इन सबसे विचित्र आचरण 'मेरी तेरी बात' की दोती का है। वह सामान्य यौन व्यवहार से असन्तुष्ट रहती है। वह चाहती है कि पति से उसका यौन सम्बन्ध बलात्कार की सीमा तक हो वह मार खाकर स्वयं को अधिक संतुष्ट करती है। उसमें उद्दाम काम वासना है। जो पशु तुल्य आक्रामक सम्भोग क्रिया द्वारा ही संतुष्ट होती है।

ख. युवती प्रेमिका के संदर्भ में :

समकालीन उपन्यासों में ऐसी नारियों के अनेक संदर्भ मिलते है जो प्रेमिका की भूमिका में पर पुरूष से शारीरिक और मानसिक सम्बन्ध रखती है। विवाहित स्त्रियां भी प्रेमिका के रूप में भारतीय नारी के पारम्परिक आचरण से हट

कर प्रेमिका की भूमिका का निर्वाह कर रही है। आधुनिक चर्चित उपन्यासों में विवाहिता प्रेमिकाओं के निम्नांकित चार रूप परिलक्षित होते हैं।

१. नपुंसक पति के कारण पर पुरूष की ओर आकृष्ट नारियां :

पति की शारीरिक दुर्बलता के कारण काम अतृप्त नारियां पर पुरूष की ओर आकृष्ट हो जाती है। यह नारी का संस्कार कहा जाना चाहिए कि वह शारीरिक आकर्षण के पहले मानसिक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। जिस पुरूष के प्रति उसका शारीरिक समर्पण होता है उसके प्रति भावात्मक रूप से वह पहले ही पूरी समर्पित हो जाती है। नारी का नारीत्व पुरूष का सहचर्य पाकर परितृप्त होता है। इस तथ्य के रूपण को लेकर इन नारी चरित्रों का गठन किया गया है। पुनर्नवा की चन्द्रा का विवाह ही क्लीव और कायर पुरूष श्रीचन्द्र से होता है वह उसका परित्याग कर साहस पूर्वक वीर्य एवं आकर्षक आर्यक को प्रेम समर्पित करती है। अनेक लांछनाओं एवं बाधाओं को सहकर भी वह आर्यक के प्रति तनमन से समर्पित रहती है। 'कच्ची पक्की दीवारें' की आभा देवी अपने पिता की आयु के व्यक्ति को पति रूप में पाकर परम दुःखी होती है। उसका दुख उस समय सारी सीमायें लांघ जाता है जब पति उसे नित अपनी अश्लील हरकतों द्वारा झझकोर कर रख देता है और उसकी यौन परितृप्ति में अक्षम होकर निढाल हो जाता है। अपनी वयस्क रूप और स्त्रीत्व का अपमान आभा देवी को असहृय हो उठता है और वह अपने देवर विमल को अपना सहज समर्पण कर देती है जो कि उसे यौन परितृप्ति देता है।

इस प्रकार की नारियों में जो मनोवैज्ञानिक समानता परिलक्षित होती है वह यही कि पति के रूप में यदि कापुरूष का वरण यदि नारी करती है तो उसकी अदम्य वासनायें उसे विपथ गामिनी बना देती है। यद्यपि नैतिकता के मानदण्डों को एक तरफ कर हम यदि मनुष्य मानसिक जगत का विश्लेषण करें तो उनका यह आचरण अस्वाभाविक नही लगता है।

२. पति की अमानुषिकता के कारण परपुरूष के प्रति आसक्त नारियाँ :

परपुरूष के प्रति नारी का आकार्षण उस अवस्था में ही पनपता है कि जब पति का व्यवहार पत्नी के प्रति अमानुसिक हो। नारी स्वभाव से कोमल होती है। पुरूष यदि उससे पशुवत व्यवहार करेगा तो उसका अन्तर्मन स्नेह की तलाश में इधर–उधर भटकेगा। प्यार का प्यासा उसका हृदय तब कहीं भी ऐसी स्थिति में अपना समर्पण करने को प्रस्तुत हो जाता है जहां दूसरे पक्ष से उसे दो बोल प्रीति के सुनने को मिलते हैं। 'खारे जल का गांव' की चंकी अपने कसायी जैसे क्रूर पति को इसी कारण सह नही पाती कि वह न केवल उसे पशुवत पीटता है वरन् उसे दूसरे व्यक्तियों की वासना पूर्ति का साधन बनने के लिए विवश करना चाहता है। चंकी इस स्थिति का दृढ़ता से विरोध करती हुई कहती है – "कोने" कसाई के हाथन परी न इज्जत आबरू है न मान मर्यादा कइसा कायर आदमी हई है भगवान"।[1]

चंकी पति से बेरूखी हो तेजस्वी अरविन्द के प्रति मानसिक समर्पण करती है। यौन भाव से अरविन्द के प्रति चनकी का अनुरागभाव नारी मन की विवशता के प्रति पाठक को गहरी करूणा से भर देता है।

---

[1] डॉ0 भगवती प्रसाद शुक्ला, खारे जल का गाँव, पृ0 76

स. रोमांटिक वृत्ति के कारण एकाधिक पुरूषों से सम्बन्ध रखने वाली स्त्रियाँ :

कुछ नारियां अपनी मनचली वृत्ति के कारण एकरस जीवन की तुलना में साहसी, जोखिमपूर्ण जीवन जीने में अधिक विश्वास रखती हैं। वह वैवाहिक जीवन की सपाट और सीधी जिन्दगी की ऊब को अर्जित प्रेम के रोमांश में डुबा देना चाहती है। इसके मोल में उनकी यौन अतृप्ति कहीं न कहीं रहती है, साथ ही साथ दाम्पत्य सम्बन्धों में पति रूचि स्वभाव तथा प्रेमालाप के ढंग में भिन्नता होने के कारण उनकी ऊँची आकांक्षायें, कामनायें उन्हें एकाधिक पुरूषों से निकट सम्बन्ध बनाने में सहायक होती हैं। इससे उनके अहं की परिपुष्टि होती है और जीवन में एक सुखद पुलक का अनुभव यह नारियां अपने प्रेम सम्बन्धों को लेकर करती हैं। 'मेरी तेरी उसकी बात' की माया पति घोष तथा प्रेमी पाठक दोनों को अपना प्रेम देती है। 'उसका शहर' की एग्नी पति द्वारा अपने प्रति उपेक्षा भाव का आभास पाकर अपने से छोटी आयु के श्री से सम्बन्ध बनाती है। 'एक इंच मुस्कान' की अमला उन्मुक्त जीवन जीने की चाह में पति की परवाह न कर कई पुरूषों से प्रेम सम्बन्ध बनाती है। वह नारी की समानता को झुठला आधुनिक जीवन की गतिशीलता को औचक ही पकड़ लेना चाहती है, "वह सड़ना नहीं चाहती निरन्तर बहना चाहती है, अनजानी अनदेखी दिशाओं में बह जाना चाहती है। दूर–दूर लक्ष्यहीन सी, निरूद्देश्य पर निर्बन्ध और उन्मुक्त"।[1]

---

[1] मन्नू भण्डारी–एक इंच मुस्कान, पृ0 112

द. परित्यक्तावस्था में अन्य पुरूष को प्रणयार्पण करने वाली नारियाँ :

'आपका बंटी' की शकुन, 'एक इंच मुसकान' की रंजना और अमला, 'तेरी मेरी बात' की उषा, 'प्रेम अपवित्र नदी' की ब्रजरानी, 'पैरों के छाले' की सवा, 'नदी और सीपियां' की स्वर्णा आदि ऐसी नारियां है जो विवाहित होकर अन्य पुरूष की ओर झुकती हैं, किन्तु इनका यह झुकाव स्वाभाविक न होकर पति के आचरण की प्रतिक्रिया स्वरूप ही होता है। 'आपका बंटी' की शकुन, पति अजय द्वारा त्यागी जाने पर स्वयं प्रतिक्रिया स्वरूप डा० जोशी को जीवन में प्रवेश देती है। अजय को परास्त करने की धुन में वह अपना वर्तमान और भविष्य को दांव पर लगा देती है। भले ही इस द्वन्द्व में परास्त शकुन ही होती दिखायी देती है क्योंकि- "सामने वाले को परास्त करने के लिए जैसा सायास और सम्पन्न जीवन उसे जीना पड़ा, उसने उसे स्वयं ही पराजित कर दिया सामने वाला व्यक्ति तो पता नहीं कब का परिदृश्य से हट भी गया और वह आज तक उसी मुद्रा में उसी स्थति में खड़ी है सांस रोके, दम साधे, घुटी–घुटी और कृत्रिम"।[1]

विधवा :

समकालीन उपन्यासों में नारी का वैधव्य अपने परम्परागत एवं आधुनिक परिवर्तित मानसिकता दोनों संदर्भो में चर्चित हुआ है। विधवा होने की स्थिति को नारी के लिए अभिशाप के रूप में स्वीकार किया जाना परम्परा बन

---

1 मन्नू भण्डारी, आपका बंटी, पृ0 38

गयी है। पति की मृत्यु के पश्चात् नारी को आर्थिक आभाव तथा सामाजिक अत्याचार नारकीय यातनायें देते हैं। यौन तृप्ति की आवश्यकता पूर्ति का उसके पास कोई विकल्प नहीं होता, परिणाम स्वरूप शरीर की प्राकृतिक क्षुधा अवैध रूप में करने को विवश नारी सामाजिक उत्पीड़न की शिकार बनती है। समकालीन उपन्यासों में इसका क्रूरतम रूप लक्ष्मी नारायण लाल के 'प्रेम अपवित्र नदी' के उपन्यास में महेश टण्डन की विधवाओं के संदर्भों में देखा जा सकता है। उनकी स्थिति परिवार में अत्यन्त नारकीय कोटि की है–

"इस परिवार की विधवा बहुएँ बिल्कुल जवान खूबसूरत, मगर उनके सिर के केश सफाचट/और सफेद वस्त्रों में लिपटी और कमरों में बन्द रोती हुई वह सिर पर केश नहीं रख सकतीं, रंगीन वस्त्र नहीं पहन सकतीं, पलंग पर सो नहीं सकतीं, कोई खटाई, मसाला या मिठाई खा नहीं सकतीं, किसी को छू नहीं सकतीं, रंग का छींटा उनपर पड़ नहीं सकता, उन्हें हर त्योहार, हर पर्व इसी तरह रोकर मनाना होगा....लोगों का विश्वास है कि यह उनके पूर्वजन्म का पाप है"।[1]

भाभी :

समकालीन उपन्यासों में माँ के सदृश वात्सल्यमयी भाभी, ननद और देवर के प्रति कठोर बर्ताव करने वाली भाभी तथा देवर से यौन सम्बन्ध रखने वाली भाभी के रूप में चित्रांकन हुआ है। 'पुनर्नवा' की पूता, 'प्रेम अपवित्र नदी' की

---

[1] लक्ष्मीनारायण लाल, प्रेम अपवित्र नदी, पृ0 68

पिहानी वाली, 'अलग–अलग वैतरणी' की तारा अपने देवरों के लिए माँ के समान व्यवहार वाली हैं। किन्तु 'कांच घर' की शखूबाई देवर मुकुन्दराव से, 'कच्ची पक्की दीवारें' की आभा देवी देवर विमल से, 'अलग–अलग वैतरणी' की मिसराइन देवर जग्गन मिश्र से, 'प्रेम अपवित्र नदी' की शिवानी देवर विष्णुपद से, आदिम संवेगों के आधार पर शारीरिक सम्बन्ध निर्वाह करती हैं।

माता :

समकालीन उपन्यासों में माँ का पारम्परिक गरिमामय रूप चरित्राकिंत हुआ है–''अम्मा कितना सहती है, मेरी माँ धरती है। पैरों से कुचलते रहो पर उन्हें कुछ भी महसूस नहीं होता। शायद मैं गलत कह रहा हूँ, महसूस क्यों नहीं होता वह महसूस करती है, पर उफ नहीं करती तो क्या धरती के समान क्षमाशील बनने के पोस्टर को चिपकाये रखने के लिए वह मौन धारण किये है।''[1] सौतेली माँ का कर्कश रूप भी समकालीन उपन्यासों में अपने पारम्परिक रूप में विद्यमान है।

---

[1] शिव प्रसाद सिंह, गली आगे मुड़ती है, पृ0 8

अविवाहिता के संदर्भ में नारी :

१. प्रेमिका :

समकालीन उपन्यासों में अविवाहिता युवती प्रेमिका के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। कहीं उसका स्वच्छन्द आचरणजन्य उन्मत्त प्रेमिका का रूप है तो कहीं वह शरीर की अपेक्षा मन आत्मा से उद्‌भूत प्रेम की साधिका है। कुछ अज्ञान यौवनायें ऐसी भी हैं, जो प्रेम पाने या करने की व्याकुलता मन में संजोयें है; किन्तु उस व्याकुलता को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ हैं।

स्वच्छन्द आचरण वाली यौन संचालिकायें :

युवतियों का चित्रण अनेक उपन्यासकारों ने किया है। ये स्वभाव से उद्धत तथा आचरण से स्वच्छन्द रहती है। शरीर की पवित्रता अथवा अपवित्रता को लेकर इनके मन में कोई द्वन्द्व उत्पन्न नहीं होता बल्कि प्रेम प्रसंगों में स्वयं को अपने प्रेमास्पद के समक्ष वे अपना प्रदर्शन करने को आतुर दिखायी देती हैं। इनके पुरूष परिचितों या मित्रों का दायरा विशाल रहता है तथा पुरूष के हाथों उन्हें खिलौने बनते भी देखा जा सकता है। नारी पुरूष के आदिम सम्बन्ध के आगे सभी नैतिक मान्यताओं को झुठलाती हुई ये युवतियां स्वतन्त्र जीवन जीने में विश्वास रखती हैं। प्रेम में प्रथम पुरुष ही अन्तिम पुरूष भी हो, इस मान्यता को लेकर ये तरूणियां माथापच्ची करती दिखायी नहीं देतीं। इसी कारण प्रेम में विफल होने के कारण किसी प्रकार की मानसिक यंत्रणा अथवा आत्मग्लानि इनमें देखने को नहीं

मिलती। 'सीमाएं टूटती हैं' की चाँद, 'राज दरबारी' की बेला, 'उसका शहर' की लूपिका, 'अनाम स्वामी' की उदिता, 'सूरजमुखी अंधरें', की स्ती, 'पैरों के छाले' की रोबीना, 'कच्ची पक्की दीवारें' की चम्पा, 'कांच घर' की माला, 'दण्ड द्वीप' की मनीषा, 'डांक बंगला' की इरा, 'मुर्गीखाना' की शीला, 'अन्तराल' की सीमा इसी प्रकार की युवतियां हैं जो प्रेम और वासना में कहीं भेद नही करती। विवाह से पूर्व ही जो देहदान में किसी प्रकार संकोच नही करती, यद्यपि अपनी इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति का कुपरिणाम भी किसी न किसी रूप में भोगना ही पड़ता है। चाँद (सीमाएं टूटती है) अपने पिता के मित्र को प्रेम करती है किन्तु वही समय आने पर उसे अकेला छोड़ सदा–सदा के लिए अज्ञातवास कर जाता है। उसके उपरान्त–"उसके आसपास किसी समुद्री किनारे जैसे वीरानगी थी जहां से पूरे दिन नहाने और खाने के बाद लोगों की भीड़ वापस चली गयी हों।"[1]

निर्मल प्रेम की साधिकायें :

नारी जब प्रेम करती है तो प्रेमास्पद पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने में ही अपने प्रेम की पूर्णता मानती है किन्तु मन देने के बाद भी तन सौपने के लिए वह कुछ सीमारेखा अपने बीच बनायें रखती है। यह सीमा रेखा उसके प्रेम की सामाजिक स्वीकृति मिलने तक बनी रहे, इसके लिए वह अपने हृदय पर प्रयत्न पूर्वक नियन्त्रण रखती है। अपना कौमार्य अपने प्रेमी को तभी समर्पित करने को तत्पर होती है जब उसे वह पति रूप में भी पा लेती हैं। यदि किन्ही विशेष

---

[1] श्रीलालसुख, सीमाएं टूटती हैं, पृ0 223

परिस्थितियों में शरीर की सीमायें टूटती भी है, तों यही मानकर कि वही पुरूष उनका प्रथम पुरूष व अन्तिम पुरूष होगा; भले ही यह इनका दुर्भाग्य रहे कि पुरूष नारी का निष्कपट निकटता पाकर उसे ही वह लांछित करता फिरे। शिवप्रसाद सिंह की 'गली आगे मुड़ती है' की जयंती अपनी आत्मा से रामानन्द तिवारी को प्रेम करती है उसकी उदासीनता अपने प्रति अनुभव कर वह कुछ समय के लिए वाचाल व साहसी बन जाती है किन्तु अपने इस अस्वाभाविक आचरण के लिए वह स्वयं दुखी होती हुई रामानन्द के समक्ष अपना ह्रदय खोलती है–"तुमने जयंती को समझा ही कब? वह प्रेम की विषम लड़ाई लड़ रही थी, तुमने उसके प्यार को प्रगर्भित संकेतों को सहानुभूति और समर्पण को सस्तापन समझ लिया। तुम नहीं जान पाये कि अपने को ही मग्न करने में नारी को कैसा जहर पीना पड़ता है। उसने खुद अपनी निर्लज्जता के कारण ऐसी ग्लानि का अनुभव किया कि कुछ समय के लिए तुमसे बोलना बन्द कर दिया, पर तुम भला उसकी चाहत को क्यों समझने लगे"।[1]

अज्ञात यौवनायें :

किशोर वयस की भावानात्मक चंचलता के लिए कुछ ऐसी युवतियों का उल्लेख भी इन उपन्यासों में मिलता है जो वय: सन्धि पर आकर शारीरिक परिवर्तनों के प्रति एक आश्चर्य मिश्रित जिज्ञासा भाव लिए है। जिनके अवचेतन में

---

[1] शिवप्रसाद सिंह, गली आगे मुड़ती है, पृ0 486

प्रेम पाने और प्रेम करने की व्याकुलता तो है, किन्तु उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति जिनकी सामर्थ्य के बाहर है।

काया (लाल टीन की छत) यौवन की दहलीज पर पहुँचते–पहुँचते नारी–पुरूष के सम्बन्धों को लेकर जिज्ञासु हो उठती है, किन्तु जब वह बीरू के सम्पर्क में आती है तो दोनों के बीच प्रवाहित विपरीत आकर्षण प्रवाह को वह ठीक–ठीक समझ नही पाती। इसी लिए दोनों ही अनेक बार एकान्त क्षणों में एक–दूसरे के निकट आ–आकर भी दूर ही रह जाते हैं। अपनी शारीरिक माँग को ठीक नहीं समझ पाती काया, किन्तु यहीं माँग जब उसे दाई के बेटे भोलू से स्पर्श सुखानुभूति कराती है, तब उसे एक अनिर्वचनीय सुखानुभूति होती है। यही अनुभूति अनजाने में उसे अपने वस्त्र शरीर से हटा अपना ही शरीर मुग्ध होकर निहारने को प्रेरित करती है।

लूपिका (उसका शहर) भी मॉडलिंग का कार्य करती है, किन्तु आयु में अपरिपक्व होने के कारण कभी अपने पिता के प्रति ही अनजाने अनुराग से भर उठती है, कभी प्रोफेसर दशानन के लिए आकर्षण से भर उठती है। अकेले में अपने ही अंग सौष्ठव को निहारने में उसे भी अनजानी खुशी हाशिल होती है।

'दण्डद्वीप' की सरोज भी इसी अवस्था से गुजर रही है, ऐसी दशा में घरवालों की तरफ से लगाये गये बन्धन उसे उलझन में डाल देते हैं वह किसी पुरूष के प्रति स्वयं आकर्षित नहीं हुई है, किन्तु मनीषा और उसके प्रेमी के

सम्बन्धों को लेकर उसमें एक अव्यक्त उत्तेजना भर उठती है। इस कारण ही वह घरवालों के विरोध के बावजूद मनीषा की सहायता करने को उद्यत होती है।

इस प्रकार नारी का प्रेमिका रूप अपनी विविधता में आलोच्य उपन्यासों का उपजीव्य बना है। यह रूप त्यागमयी, प्रेमपूरिता, कोमल हृदया प्रेमिका का भी है, जो प्रेम की खातिर सर्वस्व लुटाने में पीछे नहीं हटती और वासना के ज्वार में बहने वाली का तरूणियाँ भी हैं जो प्रेम को शारीरिक परितृत्ति मात्र का पर्याय मान लेती हैं। इतना तो कहना ही पड़ेगा कि भले ही वासना का ज्वर उन्हें जलाता हो किन्तु हृदय में प्रेमास्पद के प्रति प्रेम और समर्पण का अभाव इनमें भी नही है।

बहिन रूप में नारी :

बहिन के रूप में नारी सीमित नारी पात्रों का ही परिचय मिलता है। भाई–बहिनों के लिए अपना सुख त्याग करने वाली बहिन निजी स्वार्थो के लिए भाई–भाभी अथवा बहिन की मर्यादा का उल्लंघन करने वाली बहन इन दो रूपों में नारी को पाते हैं। मिति (टेरा कोटा) सुषमा, (पचपन खम्भे लाल दीवारें), जया, माया, (कृष्णकली) किरण, आरती, (गली आगे मुड़ती है) संजीवनी, (बेघर) का आदर्श बहन का रूप है जो परिवार और भाई-बहिनों की सुख–कामना के लिए अपने जीवन की मधुरता को नीरसता में परिणित कर देती हैं। मिति, सुषमा तथा किरण अपने मनोनीत प्रिय व्यक्ति से इसीलिए प्रणय–सूत्र में नहीं बंध पाती कि ऐसा करने से अन्य भाई–बहनों की उन्नति में बाधा उत्पन्न होने की सम्भावना है।

परिवार को सम्पन्न बनाने के लिए भाई–बहनों को पढ़ा–लिखा कर योग्य बनाने की धुन में वे युवतियां स्वयं गीली लकड़ी की तरह धीरे–धीरे सुलगती रहती हैं।

दूसरे वर्ग की वे बहने गिनी जा सकती है जो पारिवारिक मंगल भावना से विरक्त हो कर स्वयं की हित साधना में लीन हैं चाँद (सीमाएं टूटती हैं), अजरा की आपा, रोबीना (पैरों के छाले), सीमा (अन्तराल) इसी प्रकार की नारियां हैं। चाँद अपनी मनमानी करते समय बड़े भाई रमानाथ और भाभी कीं मर्यादा को एकदम झूठला देती है। अजरा आपा अपनी ही बहन के सुहाग पर डांका डालती है। रोबीना को सबा का दाम्पत्य जीवन उजाड़ने में तनिक भी संकोच नहीं होता। इसी प्रकार सीमा विधवा भाभी श्यामा के आ जाने पर स्वयं को बन्धन में पाती है तो साफ–साफ कह देती है–''मेरी अपनी जिन्दगी है, मैं जिस तरह भी उसे जिऊँ तुममें से किसी का उसमें दखल मुझे बरदास्त नहीं होगा''।[1] दण्डद्वीप की मनीषा भी भाई–भाभी का कहा न मानकर स्वतन्त्र आचरण अपनाती हैं।

वेश्या, कालगर्ल तथा रखैल :

नारी का यह रूप मूलतः आर्थिक विवशता का परिणाम ही होता है। यह विवशता कहीं तो जन्म से नारी को वेश्याकुल से जोड़ देती है, कहीं वह कर्म से उस वर्ग में जा मिलती है। समकालीन उपन्यासों में वेश्या, रखैल तथा कालगर्ल

---

[1] मोहन राकेश, अन्तराल, पृ0 165

का चित्रण दो रूपों में विशेष रूप से हुआ है। प्रथम वर्ग में उन नारियों का गर्हित रूप है, जो सामान्यतः समाज का कलंक कही जाती हैं। पुरूष की वासना को हवा देकर आर्थिक लोभ की पूर्ति करना ही जिनका प्रमुख उद्देश्य रहता है। वेश्या जहां खुले रूप में अपने रूप और यौवन का व्यापार करती है वहीं कालगर्ल यही कार्य दबे–छिपे रूप में करती हैं। रखैल अपने यौवन को किसी एक व्यक्ति के निमित्त कर उसकी आश्रिता बनती है। इसके बदले में उन्हें विवाहिता का सम्मान और प्रतिष्ठा समाज की ओर से नहीं मिल पाती है।

इस वर्ग की नारियों में ही ऐसी देवियों के दर्शन भी कर पाना दुर्लभ नही जो अपने रूप, गुण और शील में किसी कुल–ललना से कम नहीं, जो स्नेह और त्याग में किसी अभिजात्य वर्गीय नारी से किंचित मात्र भी कम नहीं कही जा सकती, किन्तु उनकी नियति वेश्या होकर रहने के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकती। कारण कि समाज के ठेकेदार उनकी उदारता एवं ममता के अनन्तर उनमें किसी साध्वी पतिव्रता स्त्री की कल्पना नहीं कर पाते। यदि कल्पना करते भी हैं तो समाज के भय से उस स्त्री का पत्नी का दर्जा देने का साहस नहीं जुटा पाते। वेश्या अथवा गणिका के कलंकित स्वरूप को रूपायित करने में समकालीन उपन्यासों के उपन्यासकारों ने परम्परा का ही निर्वाह किया है। भविष्य की असुरक्षा के भाव से ग्रस्त ये अधिकाधिक धनार्जन को अपना लक्ष्य मानती हैं। नित्य नये पुरूष की क्रीड़ा–केलिका साधन बनने में ही इनका आत्म सुख है। यदि कोई व्यक्ति इन पर विश्वास कर अपनी सारी जमा पूँजी इनके लिए न्योछावर कर दे तब भी एकनिष्ठ होना इनके स्वभाव की बात नहीं। 'मानस का हंस' की मोहिनी,

बूढ़े ताल्लुकेदार की रखैल होती है, किन्तु उसका पैसा हथियाकर भी वह उससे विश्वासघात करने में संकोच का अनुभव नहीं करती। 'कृष्णकली' की मुनीर का सारा जीवन बड़े–बड़े लोगों को मूर्ख बनाने में जाता है। उसकी पुत्री मणिक उसके संस्कार ज्यो की त्यों ग्रहण करती है। वह अपनी बहन पन्ना को एक ही व्यक्ति के प्रति समर्पित होने की मूर्खता करते देख उसे सचेत करती हुई कहती है–"हमारी अंचल ग्रंथि क्या एक ही पुरूष के चदरे से बंधी रह सकती है? वह तो हर पल हर दिन खुल–खुलकर नये चदरे की गांठ से बंधती रहती है.....ग्राहक कितना ही समृद्ध हो, समझदार दुकानदार क्या उसी एक ग्राहक के भरोसे अपनी दुकान चलाता है।"[1]

काबेरी बाई (कच्ची पक्की दीवारें) अपनी बेटी चम्पा तथा सुमति को शरीर बेचने में आनाकानी करने पर कड़ी मार मारती है जबकि उसका अपना बड़ा वीभत्स अन्त होता है। वह धन के लोभ में बेटियों को भी उसी राह पर चलाती है जिसपर चलकर वह स्वयं तबाह हुई है।

मंजुला, बसंत सेना (पुनर्नवा), इंशा (तेरी मेरी उसकी बात), अमरो (सबहिं नचावत राम गुसाई), रत्ना (काँच घर), पन्ना (कृष्णकली), नन्दिनी (प्रेम अपवित्र नदी) वेश्याकुल में जन्म लेकर भी संस्कारों से पवित्रता एवं शुचिता की अधिष्ठात्री हैं। मंजुला अपार यौवन एवं रूप की खान होते हुए भी अपने गुण और रूप को धनार्जन का साधन नही बनाती। अनेक कलाओं में निपुण मंजुला

---

[1] शिवानी, कृष्णकली, पृ0 26–27

राजकुमार देवरात के प्रति प्रथम और अंतिम बार आकर्षित होती है। देवरात द्वारा ठुकरायी जाने पर सम्पूर्ण जीवन बीतरागिनी बनकर बिता देती है। मंजुला का प्रेम एव प्रिय के प्रति निष्ठा किसी पतिव्रता स्त्री के कम नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ईशा सेठ अमर की रखैल होकर भी पत्नी से अधिक कर्तव्यनिष्ठ है। वह सारी आयु से अमर की कल्याण कामना में व्यतीत करती है। अप्रतिम रूपवती और कलावती होकर भी ईशा सलमें सितारे का काम करके अपनी जीविका चलाती है। पन्ना एवं रत्ना भी प्रेमी के दिये कष्टों को मौन रहकर सहती है किन्तु लौटकर पुनः अपनी जीवन को नरक में नही धकेलती। हलांकि पुरूष का सहज विश्वास उन्हें अन्त तक नही मिल पाता नन्दिनी जिस राजा साहब के प्रति पूरी समर्पित थी, वही उसकी एकनिष्ठता पर शंका करता हुआ उसके नारीत्व का घोर अपमान करता हुआ कहता है–"सच कहूं मैं ही तुझे वेश्या समझता हूँ मगर तुम मेरी वेश्या हो ऐसा समझना मुझे अच्छा लगता है या मैं सिर्फ यह ही समझता हूँ।"[1]

कालगर्ल समकालीन युग का अभिशाप है। स्वच्छन्दता के प्रति अन्ध समर्पित होने के कारण तथा परिवर्तन प्रियता से स्वैराचारिक वृत्ति पनपने के कारण आज की नारी इस नरक में जा गिरती है। तभी शारीरिक जरूरतें पूरी करने के लिए तो गृहस्थी का खर्च चलाने के लिए ये नारियां पुरूष समाज की वासनापूर्ति के लिए अपना शरीर बेचना प्रारम्भ कर देती हैं। 'सीमाएं टूटती हैं' की जूली, 'डांक बंगला' की सीमा, 'पैरों के छाले' की कैटी, 'गली आगे मुड़ती है' की

---

[1] लक्ष्मी नारायण लाल, प्रेम अपवित्र नदी, पृ0 30

लीला इन सभी के लिए आर्थिक आवश्यकतायें इतनी बाध्यकारिणी है कि इन्हें देह व्यापार करना पड़ता है।

वृद्धायें :

वृद्ध नारियों का हृदय स्नेह की अजस्र, स्रोतस्विनी बन जाता है, निःसंतान होने की स्थिति में अपने वात्सल्यभाव से परिवेश को स्नेहसिक्त करती रहती हैं। यदि इस अनुभूति से इन्हें वंचित रहना पड़ता है तो निराशा और एकाकीपन की कुण्ठा झेलती हुई ये वृद्धायें रूग्ण और चिड़चिड़े स्वभाव की हो जाती हैं।

वहिरंग प्रासंगिकता के संदर्भ में समकालीन उपन्यासों के माध्यम से जो नारी चित्र परिदृष्ट हुए है उन्हें वृद्धा नारियों की तुलना में युवा नारियों ने अपने विविध रूपों से आक्षादित कर रखा है। तरूणी, तरूणी है जिसे पुरूष समाज विविध प्रकार से भोगने की लालसा रखता है। चाहे विवाहिता हो चाहे अविवाहिता। उसका देह धर्मी अस्तित्व भोग लालसाओं से उसे कभी मुक्त नही होने देता। अनिच्छा और इच्छा की मरीचिका में युवा नारी के अनेक चित्र उपन्यासकारों द्वारा गढ़े गये किन्तु नारीत्व की लेखिकीय समस्तता अभिपूर्ण नहीं हुई। जितने भी रूप, चित्र और चरित्र नारी के गढ़े जा सके हैं वे नारी के तन और उससे अधिक मन की असंख्य विविधताओं को अपनी लेखनी में ऐसा निवद्ध नहीं कर सके हैं कि कहा जा सके कि नारी वर्णन की यही सम्पूर्णता है। सामाजिक स्वीकृति-चाहे विवाह के रूप में या अन्य किसी रूप में इच्छा–अनिच्छा के संदर्भ में जुड़ी हुई है,

वही उसे नैतिक या अनैतिक बनाती है। वही उसे सामाजिक या असामाजिक बनाती है। फिर भी समाज सहमति और रिस्तों की उपेक्षा भारतीय समाज नहीं करता है। बीती हुई उम्र की कब्र से नारियों के जो रूप उभरते हैं वे नितान्त भौड़े और अप्रासंगिक होते हैं। फिर भी कुछ ऐसी वृद्धायें मिल जाती है,जो समाज को नेतृत्व और गति प्रदान करती हैं। एक निष्कर्ष यह भी निकलता है"कि नारी मूलतः आत्म केन्द्रित और स्वार्थी है। वह अपनी वैयक्तिक आकांक्षा और लाभ को लक्ष्य के आसन पर बैठाकर जीवन यात्रा को आगे बढ़ाती है ऐसी नारियां सामाजिक संदर्भो में अप्रासंगिक और व्यक्तिगत संदर्भों में प्रयोजनीय और प्रासंगिक होती हैं"।[1]

---

[1] डॉ0 विमला शर्मा, साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप, पृ0 94

(२) नारी और उसका परिवार :

मानव समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है। मानव की आदिम सभ्यता से ही उसके परिप्रेक्ष्य में परिवार का अस्तित्व रहा है और किसी न किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है परिवार को समाज की प्राथमिक इकाई कहा जा सकता है। बिना परिवार के मानव जीवन का निरंतर प्रवाह सम्भव नही है, क्योंकि पारिवारिक व्यवस्था ही मर चुके लोगों की स्थानपूर्ति नवजात शिशुओं से करती है। इस प्रकार परिवार द्वारा मृत्यु और अमरत्व दो विरोधी अवस्थाओं का सुन्दर समन्वय हुआ है। परिवार की परिभाषा के सम्बन्धों में मदभेद है। इस सम्बन्ध में प्रख्यात विचारक अरस्तु का मत-"परिवार प्रकृति द्वारा मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित संघ है"।[1] परिवार के संदर्भ में वरनेश एवं लॉक ने लिखा है-"परिवार विवाह रक्त सम्बन्ध या गोद लेने के बन्धनों से सम्बद्ध व्यक्तियों का एक समूह है, जो गृहस्थियों का निर्माण करते हैं और एक दूसरे के साथ अन्तः क्रिया और अंतःसंदेश देते हुए पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री और भाई-बहन के रूप में निर्धारित सामाजिक कार्यो का वहन करते हैं। एक सामान्य संस्कृति को बनाते हैं एवं उसकी रक्षा करते हैं"।[2]

---

[1] डॉ0 मदन मोहन पाण्डेय, राजनीति के सिद्धांत, पृ0 46

[2] A family is a group Persons united by the times of marrieage Wlood or atoption. Conssitueting a single household interacting and inter comunicating with each other in their respective social tole of husband and wife, mother and father, son and doughter, brother and sister and creating and maintaianing a common cultural. E.W. Burgess and H.L. Lockl. The family from institution to companionship. American Book Co. Newyork, P. 8

इस प्रकार यह कहना उचित होगा कि समाज रूपी प्रासाद में परिवार एक ईंट के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। काल प्रवाह के साथ निरन्तर पारिवारिक स्वरूप और स्थितियों में परिवर्तन होता गया। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही पारिवारिक जीवन में परिवर्तन अधिक सम्भावी था। नई आवश्यकताओं, नई वैज्ञानिक सुविधाओं का प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर भी पड़ा, आज परिवार में पुरानी परम्परायें परिवर्तित हो रही हैं। उपभोक्तावादी सभ्यता के कारण नारियां भी घर आंगन से बाहर निकल कर जीवन के उन क्षेत्रों में संघर्ष करती दिखाई पड़ रही हैं, जहां पूर्व युगो में मात्र पुरूषों का एकाधिकार था। युग की आवश्यकताओं के अनुसार सयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं। व्यक्ति परिवार लघु से लघुतम होने की प्रक्रिया में ही परिवार के सभी सदस्य आत्म निर्भर बनना चाहते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों एवं परम्पराओं की विरक्ति की भावना बढ़ी है। स्त्रियां स्वाभिमान से जुड़ी हैं और किसी भी क्षेत्र में स्वयं को पुरूष से पीछे नही रहने देना चाहती हैं।

बाल विवाह कम होने लगे हैं, प्राचीन मूल्य व परम्परायें अति विघटित हुई हैं, आधुनिक परिवर्तनों से परिवार को और उसके केन्द्र में नारी को लाभ ही हुआ है, किन्तु घाटा भी कम नही हुआ। परिवार में कुण्ठा, तलाक, बिखराव बढ़ते जा रहे हैं। महिला लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में पारिवारिक जीवन का चित्रांकन किया है। उसके उज्जवल पक्षों के साथ नारी जीवन की समस्यायें भी उजागर हुई है। नारी के पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित हो रहे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रमुख रूप से पारिवारिक समस्या का जीवन्त प्रस्तुतीकरण किया गया है।

क. संयुक्त परिवार :

प्रागैतिहासिक काल से ही परिवार सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला रहा है। संयुक्त परिवार प्रथा भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के इतनी अनुकूल थी कि यहां के मुस्लिम एवं ईशाई परिवारों ने भी धीरे–धीरे इस प्रणाली को अपना लिया। सर्व श्री कीथ और मैंगट्रोनल जैसे पाश्चात्य विद्वान संयुक्त परिवार प्रणाली को अति प्राचीन मानते हैं।[1] अनेक वैदिक मंत्र ऐसे हैं जिनसे इस प्रणाली की प्राचीनता सिद्ध होती है। पुरोहित विवाह के समय वर–वधू को आर्शीवाद देता हुआ कहता है–"तुम यही इसी घर में रहो अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए सारी आयु का उपभोग करो।"[2] तथा तू सास, श्वसुर, ननद और देवर पर शासन करने वाली रानी बन।[3] यदि विवाह के पश्चात् पुत्र के माता–पिता से पृथक हो जाने की प्रथा होती तो ऐसे आशीवदि का महत्व ही नही होता।

आधुनिक युग में धीरे–धीरे संयुक्त परिवार प्रथा क्षरित हो रही है। महिला लेखिकओं ने साम्प्रतिक संदर्भो में पारिवारिक और उसमें नारी की विविध स्थितियों का चित्रांकन करने की चेष्टा की है। युग कोई भी रहा हो किन्तु नारी की प्राकृतिक कोमलता और समर्पण भावना उसे प्रगति के नारों और ऐलानों के

---

[1] डब्लू0 किंग सन, प्रिहिस्ट्रिक ऑफ इण्डिया, पृ0 91
[2] ऋग्वेद,10 / 85 / 41
[3] ऋग्वेद,10 / 85 / 46

बावजूद पुरूष प्रधान समाज में ही रहने को विवश करते हैं। यत्र–तत्र नारी की पारिवारिक स्थिति सुन्दर होने की भी स्थितियां परिलक्षित होती है।

'कोरजा' उपन्यास में मेहरून्निशा परवेज ने संयुक्त परिवार का चित्रण करते हुए नारी की स्थिति को चित्रित करने की चेष्टा की है। इस उपन्यास मे परिवार को परिवार की भाषा से ही उद्घाटित किया गया है। चौके आंगन की चर्चा उपन्यास की स्वभाविक उपलब्धि बन गयी है। धुंए से भरे चौके में जलते छोंक से आती खांसी और छींक की अनुभूति बिना परदे के बाथरूम में छिप–छिप कर नहाती और शर्माती नई बहू तथा पास पड़ोस की उल्टी–सीधी बातों को पिरोकर इस रूप में पेश किया गया है कि पाठक प्रत्यक्ष रूप से इस परिवार को देखने में समर्थ हो जाता है। इस उपन्यास में एक नारी को बदचलन पति के दुराचण का दर्द झेलते हुए दिखाया गया है–"तुम्हें तो बाहर की औरत की ऐसी लत लगी है, जैसे किसी को पान के साथ तम्बाकू की लत लग जाय।"[1] इन उपन्यासों में नारी के विविध रूप प्रदर्शित किये गये हैं जैसे ममतामयी सास के लिए व्रत, सास का बहू के प्रति एवं बहू का सास के प्रति ईर्ष्यालु व्यवहार, आज की बहुओं के विविध रूप हैं।

ख. एकाकी परिवार :

आधुनिकता की आंधियों ने संयुक्त परिवार के महावृक्ष को धराशायी कर दिया है। काल प्रवाह के साथ संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है और

[1] मेहरून्निशा परवेज, कोरजा, पृ0 21

एकाकी परिवारों का उद्भव। संयुक्त परिवार के टूटन का कारण क्या है? यह एक युग प्रश्न बन गया है। नई और पुरानी पीढ़ी का टकराव, महिलाओं का वैचारिक संघर्ष, सास–बहू या ननद–भाभी के झगड़े परिवार के किसी सदस्य का निकम्मा होने, परिवार में व्यभिचार अथवा मंहगाई के अतिरिक्त व्यापार अथवा नौकरी के लिए पुरूष अथवा नारी के बाहर जाने के कारण संयुक्त परिवार को व्यक्ति परिवार में परिवर्तित होने का आधार प्राप्त होता है। इन परिस्थितियों का प्रतिकूल प्रभाव कभी–कभी घातक दृष्टिगोचर होता है। शशिप्रभा शास्त्री के उपन्यास 'अमलतास' में एकाकी परिवार के दुस्प्रभाव से व्यथित एक माँ का रोमांचकारी चित्रांकन हुआ है–"बेटा बीबी को लेकर इस धरती पर मौज–बिहार कर रहा है। विधवा माँ की उसे फिक्र ही कहां है उसे क्या पता और पता करने की जरूरत भी क्या है कि माँ ने कितने दिनों से एक वक्त भी भरपेट खाना नही खाया है।"[1]

'तुम्हारे लिए' उपन्यास यद्यपि गृहस्थी एवं सामाजिक जीवन का अंकन विशिष्ट रूप से करता है। विवाह पूर्व प्रेम की बातें करता है अथवा बिना वैवाहिक सूत्र में बंधे ही दाम्पत्य जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की नारी पात्र रेखा अपने अविवाहित साथी केशव से कहती है–"तुम क्या समझते हो कि बिना विवाह के परिवार नही बसाया जा सकता, हम तुम जो पारिवारिक सुख उठा रहे हैं वैसा क्या सात भावरें डालकर भी पाया जा सकता है।"[2]

---

[1] शशि प्रभा शास्त्री, अमलतास, पृ0 140
[2] सुमति अय्यर, तुम्हारे लिए, पृ0 27

'बीते हुए' उपन्यास में शुभा वर्मा ने एकाकी परिवार का चित्रण किया है, 'देव'–"बेरोजगारी के कारण उसके जीवन में अभावों की प्रधानता है उसकी पत्नी कहती है–रोटी, कपड़ा..........कहां है मेरा घर.........चार महीने से तुमने मकान का किराया नही दिया। दो महीने से बनिया का बिल भी बाकी है। दूध वाला तुम्हारी गैर मौजूदगी में गरजता हुआ आता है.....अखबार वाले से तुम्हारें घर पर न होने का मुझे झूठ बोलना पड़ता है..और फिर दो महीने बाद तुम बाप बनोंगे क्या इंतजाम किया है तुमने अपनी होने वाली संतान का"।[1]

एकाकी परिवार में सदैव दुःख ही छाया रहता हो ऐसा नही है। सुखमय दाम्पत्य जीवन की सुगन्ध से परिपूर्ण स्थल भी नारी उपन्यासों में देखे जा सकते हैं। शशि प्रभा शास्त्री ने 'क्योंकि' उपन्यास में दीपक और आभा के सुखमय जीवन का चित्रांकन किया है। दोनों नौकरी करते है, बच्चों के प्रति ध्यान देते हैं। विचारों में कुछ असमानता जरूर है। दीपक जहां बच्चों के आदर्श विवाह का पक्षपाती है, वहां आभा परम्परागत विवाह को मान्यता देती है। बच्चे छोटे है इसलिए तनाव का प्रश्न ही नही उठता। दाम्पत्य जीवन की अनेक झलकियां स्थान–स्थान पर मिलती है यथा–"दीपक पूछता है कि चाय वाय नही मिलेगी।" "मिलेगी क्यों नही.......अभी वीरू को चीनी लाने भेजा है बच्चों के लिए नाश्ता लगा रही थी। सोच ही रही थी कि तुम्हारे पास चाय पहुंचाये।" लावो अब यही पकड़ा दो मै आ ही गया हूँ।"[2]

---

[1] सुभा वर्मा, बीते हुए, पृ0 8
[2] शशि प्रभा शास्त्री, क्योंकि, पृ0 12

समकालीन नारी उपन्यासों में विविध परिदृश्य मिलते हैं जैसे आर्थिक कठिनाइयां से जलता दाम्पत्य जीवन, मधुर सुखी दाम्पत्य जीवन, विपरीत स्वभाव के कारण कलह में जलता जीवन, अनमेल विवाह से व्यथिंत पारिवारिक जीवन, अविश्वास और संदेह से ग्रस्त पारिवारिक जीवन, व्यभिचार से सुलगता दाम्पत्य जीवन टूटता दाम्पत्य जीवन आदि नारी के पारिवारिक जीवन के विविध परिदृश्य समकालीन नारी उपन्यासों में विवक्षित है।

(३) व्यक्तिगत मानसिकता के संदर्भ में नारी :

समकालीन परिस्थितियों में नारी की जिस परिवर्तित मानसिकता को हम पाते हैं उसी की प्रतिछाया उसकी वैयक्तिक मानसिकता में परिलक्षित होती है। नारी के बहिरंग पक्ष की अपेक्षा उसके अन्तरंग मनोविश्लेषण को विशेष स्तर पर रूपायित करने का श्रेय मृदुला गर्ग, मन्नू भण्डारी, निरूपमा सेवती, सुधा गोयल, कृष्णा सोवती, ममता कालिया, मेहरून्निशा परवेज, शशि प्रभा शास्त्री, क्षमा शर्मा, कुसुम अंसल आदि महिला उपन्यासकार तथा जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय तथा उपेन्द्र नाथ अश्क जैसे पुरूष उपन्यासकारों को प्राप्त होता है। इन लेखिका तथा लेखक उपन्यासकारों की कृतियों में नारी का बहिरंग पक्ष यद्यपि पूरी अस्मिता के साथ उपस्थित है, किन्तु इसमें चित्रांकन नारी का अन्तर्जगत इतना प्रत्यक्ष, इतना यथार्थ, इतना जाना-पहचाना तथा विश्वसनीय है कि उसके आगे बहिरंग पक्ष गौण हो जाता है। नारी के मन की एक–एक परत उखाड़ कर इन उपन्यासकारों ने उसके वैयक्तिक पहलू की विविधता को साकार किया है। इन दबी–उभरी परतों में कहीं तो नारी का अन्तर्मुखी व्यक्तित्व परिभाषित है जो स्वयं अपने ही बनाये जाल में विषाद और पीड़ा की खांइयों में जा पड़ता है। कहीं उसका बहिर्मुखी व्यक्तित्व है जो अपनी उन्मुक्तता और ऊर्जस्वित स्वरूप से अपने परिवेश को महका–चहका चलता है।

समकालीन उपन्यासों में सामयिकता की स्वीकृति मानसिक धरातल पर मिलती है। अतः इन उपन्यासों का भोग तत्व शुद्ध सामाजिक न होकर व्यक्ति

की अन्तरंग समस्या बन गई है। उनके केन्द्रीय पात्र अपनी सम्वेदनाओं में समष्टि को समाहित नही कर पाये प्रत्युत यह उनकी निजी भोग की समस्या बन गयी है। केन्द्रीय पात्र मानो अपनी विराटता से अधिक अपनी लघुता में जीवित रहने के अभ्यस्त हो गये हैं। आत्मकेन्द्रित पात्रों के आन्तिरक घात–प्रतिघातों का मनोविश्लेषण ही इन उपन्यासों का चरम साध्य बन गया है। परम्परा से प्राप्त हमारे नैतिकतावादी मूल्य भी युगीन आत्म परक प्रवृत्ति के कारण समाप्त से हो चुके हैं तथा उनके स्थान पर आत्म परक लघुता ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होकर सामने आ गयी है। यंत्रयुग के परिणाम अधिकांशतः निराशा मूलक रहे हैं। फलतः व्यक्ति का सामाजिक परिपार्श्व संकुचित हो गया है और निजता की लघुपरिधि में समा गया है। इसीलिए आज के कथा साहित्य में मानव चरित्र के स्थान पर कुण्ठा ग्रस्त व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है–"ऐसे उपन्यासों के केन्द्रीय पात्रों के कुण्ठा ग्रस्त व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले तत्वों, घटनाओं तथा स्थितियों का सम्यक् ज्ञान पा लेना ही नई पीढ़ी के पाठकों की एक जटिल लेकिन अनिवार्य समस्या है। इन उपन्यासों के पाठक पात्रों की बदलती रूचियों, घटनानुकूल परिवर्तित मनोग्रंथियों तथा उनके द्वन्द्वात्मक मनोजगत की स्थितियों की सही जानकारी पाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी रूचि परिवर्तनों, संवेगों तथा मानसिकता के तर्क पुष्ट विश्लेषण के लिए मनोविज्ञान जगत की उपलब्धियों से परिचित हो जाना पाठकों के लिए एक आवश्यक शर्त है।"[1] आपका बंटी उपन्यास

---

[1] डॉ0 राम विनोद सिंह, हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नारी चरित्र, शोध साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1973, पृ0 23

में लेखिका मन्नू भण्डारी ने पात्रों के मानसिक जगत को निहारने का प्रयास किया है और उनकी मनःस्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। शकुन और बंटी ऐसे ही पात्र हैं। इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र शकुन में वहम की प्रवृत्ति है। निःसंदेह व्यक्ति विशेष में चाहे वह किसी भी जीव, वंश, वर्ण अथवा आयु का हो अहं की प्रवृत्ति किसी न किसी मात्रा में अवश्य विद्यमान रहती है। हमारी सामाजिक परिस्थितियां हमारे परिवेश इस अहं भाव को बराबर प्रभावित करते हैं। अहं भाव स्वाभिमान के स्तर तक तो उचित है किन्तु जैसे ही वह अहंकार की श्रेणी में आता है एक बुराई बन जाता है। शकुन का अहं भाव ही उसके दाम्पत्य जीवन के विखराव का कारण बन जाता है। वह सात वर्षो तक टूटा हुआ जीवन जीती है। उन दिनों उसकी व अजय की मनःस्थितियों का एक चित्र खींचती हुई लेखिका लिखती हैं—"शुरू के दिनों में ही एक गलत निर्णय ले डालने का एहसास दोनों के मन में बहुत साफ होकर उभर आया था, समझौते का प्रयत्न भी दोनों में अण्डरस्टेन्डिग पैदा करने की इच्छा करने से नही होता था, वरन् एक दूसरे को पराजित करके अपने अनुकूल बना लेने की आकांक्षा से, तर्को और बहसों में दिन बीतते थे और ठंडी लाशों की तरह लेटे-लेटे दूसरे को दुःखी, बेचैन और छटपटाते हुए देखने की आकांक्षा में रातें, भीतर ही भीतर चलने वाली एक अजब ही लड़ाई थी वह भी, जिसमें दम साधकर दोनों ने हर दिन प्रतीक्षा की थी कि कब सामने वाले की सांस उखड़ जाती है और वह घुटने टेक देता है। जिससे कि

फिर वह बड़ी उदारता और क्षमाशीलता के साथ उनके सारे गुनाह माफ कर उसे स्वीकार कर ले, उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को निरे एक शून्य में बदल कर।"[1]

'बेघर' उपन्यास में संस्कारबद्ध व्यक्ति के तनाव और यातना की स्थिति का स्पष्टीकरण है। यह स्थिति तब स्पष्ट होती है जब परमजीत संजीवनी से संभोग के प्रश्चात् यह अनुभव करता है कि वह पहला व्यक्ति नही। परमजीत कुवांरेपन की परख चीख पुकार और रक्त से सम्बद्ध करता है और जब संजीवनी के साथ ऐसा कुछ नही होता तो प्रथम न होने का विसाद उसे घेर लेता है। उसे जीवन का नक्शा तुड़ा–मुड़ा दिखाई पड़ता है। लेखिका इस स्थिति का चित्रांकन करती हुई लिखती है–"वह दुर्घटना ग्रस्त आदमी की तरह सन्न बैठा रहा, संजीवनी को देख–देख वह चकित हो रहा था कि वह लड़की थी बिल्कुल वही पर कितनी अलग लग रही थी। इतनी थोड़ी दूर पर बैठे हुए भी वह मीलों दूर जा पड़ी थी।[2]

यशपाल के उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' में उषा के मानसिक धरातल की मुखर अभिव्यक्ति दी गयी है वह प्रारम्भ मे निर्मल पन्त से प्रेम करती है, किन्तु शारीरिक विकृति की कल्पना से जब निर्मल विवाह में आनाकानी करता है तो वह एक ही झटके में उससे सम्बन्ध तोड़ लेती है। तत्पश्चात् अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्थापना के क्रम में पारिवारिक विरोध के बावजूद विजातीय अमर से विवाह करती है। अमर के मित्र नरेन्द्र से उसकी मित्रता है। पति द्वारा शंका किये

---

[1] मन्नू भण्डारी, आपका बंटी, पृ0 40
[2] ममता कालिया, बेघर, पृ0 98

जाने पर वह विफर जाती है। अमर के यह कहने पर कि उसे नरेन्द्र और अमर में से एक को चुनना होगा तो वह आवेश मे आकर कहती है–"अब फिर चुनना ही है तो 'इट इज नाट यू'।"[1]

रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' तथा 'खारे जल का गॉव' की बदमियां और चंकी पति द्वारा सताई गयी स्त्रियां हैं पति क्लीव और कायर है जो निजी स्वार्थो के लिए पत्नी को पर पुरूष की भोग्या बनने को विवश कर देते हैं। प्रतिक्रिया स्वरूप बदमी और चंकी दोनों ही पुरूष के प्रतितीव्र क्षोभ से भर उठती है। दोनों का व्यक्तित्व अपार विद्रोह से भर उठता है। बदमियां का सौभाग्य है कि उसे कुंजू तिवारी जैसा स्नेहिल हर हाल में साथ देने वाला साथी मिल जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश चंकी जिसे स्नेह सुमन अर्पित करती है; उसमें समाज और जातीय सीमाओं को तोड़ने का साहस उत्पन्न नही हो पाता। फलतः चंकी आत्महत्या के लिए विवश हो जाती है। 'कच्ची पक्की दीवारें' की दीपा भी धन के लोभ में पति द्वारा जब मिनिस्टर की अंकशायिनी बनने पर विवश कर दी जाती है तो वह भी आत्महंता व्यक्तित्व का परिचय देती है। इसके विरोधी व्यक्तित्व का परिचय इसी उपन्यास की चम्पा, कावेरी, रत्ना, माला आदि में मिलता है। जिनका उद्देश्य धन प्राप्ति ही है।

'टेरा कोटा' की मिति का चरित्र सुदृढ़ इच्छाशक्ति एवं उदान्त भावनाओं से मण्डित है। वह अपने व्यक्तित्व निर्माण में स्वयं उत्तरदायी एवं साधन

---

[1] यशपाल, मेरी तेरी उसकी बात, पृ0 86

रही है। उसमें आभ्यांतर संश्लिष्टता के दर्शन होते हैं। वह जीवन में एकाधिक व्यक्तियों को स्थान देती है किन्तु अपनी उद्देश्य पूर्ति की धारा में निजी सुखों का परित्याग करती आती हैं। अन्त तक वह स्वयं को ही अपना सहारा बनाने के लिए प्रयत्नशील है। परिवार की आर्थिक और सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा उसका लक्ष्य है। जिसकी पूर्ति वह सम्पूर्ण निष्ठा से करती है। इसी प्रकार पचपन खम्भे लाल दीवारे की मनीषा परिवार के लिए आत्म त्याग करती है। किन्तु वह अन्त में स्वयं को हारी हुई अनुभव करती है। उसका व्यक्तित्व मिति की तरह सशक्त नही है।

'डांक बंगला' की इराबचपन से ही असुरक्षा के भाव से ग्रस्त है। माँ का देहान्त और पिता की व्यस्तता उसे प्यार की प्यास से भर देते है। इसी प्यास को अपने यौवन काल में एकाधिक व्यक्तियों को देहार्पण की प्रक्रिया में पूरे करने का प्रयास करती है। तृष्णा बुझाने की चेष्टा में वह और प्यासी हो जाती है, हर पुरूष उसके शरीर को एक डाक बंगलें की तरह भोग कर चल देता है। अन्त में इरा एकाकी जीवन जीने की व्यथा झेलती है।

'अन्तराल' की मनीषा आत्म विभाजित व्यक्तित्व की स्त्री है। वह वैधव्य काल में एक ओर तो शारीरिक धरातल पर प्रेमी पुरूष की चाह करती है, दूसरी ओर पति की विद्रोही स्मृतियों का जाल उसे उलझायें रहता है। वह आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होकर भी मानसिक रूप से दुविधा का परित्याग नही कर पाती। इसकी तुलना में 'दण्ड द्वीप' की मनीषा में उत्कृष्ट जिजीविषा है। वह जिसे मन से पति स्वीकार कर चुकी, उसकी संतान को जन्म देने का साहस दिखाती है।

भले ही समाज उसे स्वीकृति दे अथवा नही। वह कुवांरी माँ बनकर भी किसी मनोग्रंथि से पीड़ित नही है।

'प्रेम अपवित्र नदी' की ब्रजरानी का वैयक्तिक विकास पति द्वारा पण्डे को दान दिये जाने पर होता है। वह अपने प्रति हुए अनाचार का विरोध करती है। पण्डे के घर से भागने में ब्रजरानी को सफलता मिलती है। किन्तु लौटकर कायर पति के घर जाने की अपेक्षा वह साहसी डाकू सरदार को समर्पण करने में सुख मानती है।

'लाल टीन की छत' की काया माँ के पास होकर भी उससे दूर होने का अनुभव करती है। पिता दिल्ली में अपना मन रमा चुके हैं। जाते बचपन और आगत यौवन की भूल–भूलइया में अपने आस–पास अकेलापन, सूनापन, अजनबीपन एवं मृत्यु भय एक धुन्ध की तरह छाया हुआ पाती है। उसके आस–पास सर्दियों की छुट्टीयों का सूनापन और एक रस परिवेश की व्याप्ति है। गिन्नी (बिल्ली) की भयानक मौत ने उसे मृत्यु भय से पीड़ित किया। किशोरी से युवती होने के एहसासों का लम्बा सिलसिला उसके आन्तरिक द्वन्द्व को गहराता जाता है। इसी सिलसिले के बीच से वह जीवन की अदृश्य वीथियों को खोजने की प्रक्रिया से गुजरती है। अकेलेपन की उकताहट के बाद भी उसमें जीवन की ललक पनप रही है। इसका एहसास उसके द्वन्द्व के उस अन्तिम छोर को छूता है, जब वह प्रथम बार पूर्ण युवती होने की स्फूर्ति से भर उठती है।

'एक इंच मुस्कान' की अमला प्रतिशोध की भावना से ग्रसित है। पति द्वारा परित्याग किये जाने के परिणाम स्वरूप पुरूष मात्र के प्रति उसके मानस में प्रतिशोध का भाव भर गया है। पुरूष को खिलौना बनाने की प्रक्रिया में उसका पुरूषहंता व्यक्तित्व अंततः स्वयं टूटकर विखर जाता है। पुरूष के प्रति दर्शायी उपेक्षा अचेतन रूप से उसे पुरूष की अभिलाषिनी बना देती है। 'कृष्णकली' की कली में आभ्यांतर संश्लिष्टता का सर्वथा आभाव है। आरम्भ में कोढ़ी माता–पिता की संतान तथा वेश्या के कोठे पर पली होने की लांछना उसमें विद्रोह भर देती है। वह समाज के विपरीत कठोर और दुस्साहसी कारनामें करती हैं किन्तु अन्त में वह प्यार और समर्पण की मूर्ति बन मूक भाव से प्राणोत्सर्ग कर देती है।

'सूरजमुखी अंधेरे' की स्त्री आत्म विभाजित नारी पात्र है। बचपन में हुए बलात्कार से उसमें मानसिक जड़ता उत्पन्न हो गयी है जो अनेक पुरूषों के सम्पर्क में आकर भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। अन्त में दिवाकर के साथ समागम में वह जड़ता पूरे विश्वास के साथ फूटती है।

'दो' उपन्यास की नीमा अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की नारी है। एक पति से ऊब और घबराकर वह दूसरे का घर अपनाती है। दूसरे की मृत्यु के बाद पुनः प्रथम पति के घर आने को अभिशप्त होती है। वह खण्डित व्यक्तित्व की नारी है जो परिस्थितियों के सामने लाचार हो जाती है। 'पैरों के छाले' की सबा तथा

'कांच घर' की रत्ना में परिस्थितियों का विरोध करने की शक्ति का परिचय मिलता है। उनमें अपार जिजीविषा के दर्शन होते हैं।

आधुनिक युग संदर्भ समाज की अपेक्षा व्यक्ति से अधिक जुड़े दिखायी देते हैं। चाहे नारी हो या पुरूष अपनी वैयक्तिकता का तिरोहण सहने की स्थितियों में आज हम उसे नही पाते। नारी स्वातन्त्र्य की चर्चा करते समय आधुनिक युग संदर्भ में नारी की दोहरी मानसिकता का परिचय मिलता है। घर से बाहर और घर के भीतर उसे अलग-अलग भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। उसे आधुनिकता और परम्परा के द्वन्द्व को भी झेलना पड़ता है। युगीन संत्रास, कुण्ठा, आक्रोश और टूटन की प्रक्रिया से गुजरती नारी अनेक मनोदशाओं का साक्षात्कार करती है। बदलते संदर्भ नैतिकता और अनैतिकता के लिए भी नयी परिभाषायें गढ़ते है। नारी इनके चक्रव्यूह में फॅसकर या तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है या मनोभूमि से उपजे तर्क का आश्रय लेकर उचित पथ पर आगे बढ़ जाती है।

(४) आधुनिकता और परम्परा के द्वन्द्व में जूझती नारी की मानसिकता :

15 अगस्त 1947 को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारतीय जन चेतना आधुनिकता और परम्परा के द्वन्द्व से पूर्णतः मुक्त नही हो पायी है। नारी और पुरूष सैद्धांतिक रूप में आधुनिकता के सम्पोषक दिखायी देते हैं। किन्तु व्यावहारिक रूप में परम्पराओं के पूर्वानुसार ही सम्पोषक दिखाई पड़ते है। भारतीय नारी ने नारी जागरण सम्बन्धी अनेक आन्दोलन किये फिर भी यह जागरण जितना वाह्य धरातल पर संवीक्षित होते हैं उतने आन्तरिक धरातल पर नहीं। संवैधानिक रूप से नारी को चाहे कितना सुरक्षित और शक्तिशाली क्यों न बनाया गया हो, किन्तु व्यावहारिक जीवन में नारी को प्रदत्त ये शक्तियां कितनी कारगर है, ये सभी जानते हैं। समकालीन उपन्यास नारी के आधुनिकता बोध के महलों में सम्यक् निवास करती परम्पराओं का सफल चित्रण करते हैं। आधुनिक वस्त्र पहनने से आधुनिक तरह से, अपने बच्चों का जन्म दिन 'हैपी बर्थ डे टू यू' कहकर मनाने से डायनिंग टेबल पर खाना पेश करने से या शिक्षा की ऊँची डिग्रीयां लेने और वर्किंगवोमेन के रूप में व्यापार अथवा नौकरी करने मात्र से अनुचित रूढ़ियों, अवांछित परम्पराओं तथा तर्कहीन मान्यताओं से वह मुक्त होकर सच्चे अर्थो में क्या आधुनिक नारी हो सकती है? इन संदर्भो को समकालीन उपन्यासों में बड़ी बारीकी से देखा परखा गया है। आधुनिक जीवन में आर्थिक समस्यायें अन्य समस्याओं की तुलना में अधिक उग्र रूप धारण करती जा रही है।

पुरूष के साथ नारी को भी धनोपार्जन में घर अथवा घर से बाहर व्यस्त रहना पड़ता है। इस स्थिति में नारी के परिश्रम का अनुकूल परिणाम तो प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया जाता है। किन्तु उसकी आर्थिक व्यस्तताओं के रहते हुए भी परिवार उससे आशा करता है कि वह माँ, पत्नी, बहू, भाभी अथवा बेटी के दायित्व का परम्परागत रूप में ही निर्वाह करें। इन दोहरे मानदण्डों की पूर्ति में लगी नारी का व्यक्तित्व दो खण्डों में विभक्त होने के कारण मानसिक धरातल पर उसे बेहद तनाव झेलना पड़ता है। उसकी जीवन रेखा के एक बिन्दु पर पारम्परिकता उसके पैरों में बेड़ियां डालना चाहती हैं और दूसरे बिन्दु पर आधुनिकता उसे अपनी ओर खींचने की कोशिश करती है। परिणामतः उसके व्यक्तित्व के रबड़ की तरह तनना पड़ता है। पारम्परिक रूप में नारी के लिए–''जब तक उसकी मुख्य भूमिका पत्नी और माँ बनना था तब तक तो कोई दिक्कत नही है परन्तु आज उसे इसके अलावा घर से बाहर नौकरी भी करनी पड़ती है। इसकी वजह से उसकी भूमिका को लेकर अनेक उलझने पैदा हो गयी है। इस संक्रान्ति काल में ये उलझने इसलिए है, क्योंकि उसकी पुरानी और नई भूमिका में तालमेल नही है। स्वयं उसके अन्तर में संघर्ष है। चूंकि उसके परिवार के दूसरे सदस्यों के उत्तरदायित्व को दुबारा निश्चित नही किया गया है। इसलिए तनाव और गलतफहमियां उत्पन्न होने की बहुत अधिक गुंजाइश रहती है''।[1]

पारिवारिक स्थितियों की मांग पर नौकरी करने की स्थिति नारी के लिए सामान्य बात हो गयी है। अविवाहिता युवती पूरे मनोयोग और साहस के

[1] डॉ0 प्रमिला कपूर, काम काजी भारतीय नारी, पृ0 36

साथ परिवार के भरणपोषण का भार उठाने की जिम्मेदारी ले तो लेती है किन्तु परिवार के 'बड़े' उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को नकार कर उसे कोरे आदर्शों पर बलि चढ़ाने की कोशिश करते हैं। इस स्थिति में जब अतीत के नीरस जीवन तथा भविष्य के भयावह एकान्त की कल्पना में उसका दम घुटता है तो वह पुनः उस पारम्परिक दृष्टिकोण की ओर उन्मुख होती है, जहां उसे सही समय और आयु पर पुरूष साथी पति के रूप में प्राप्त हो सकता था, जहां उसके त्याग और परिश्रम का मूल्य पारस्परिक स्नेह मूल्य से आंका जाता।

'टेरा कोटा' (लक्ष्मीकान्त वर्मा) की मिति आधुनिकता की लहर में बहकर रोहित द्वारा किये गये विवाह प्रस्ताव को ठुकरा कर परिवार की आर्थिक दशा सुधारने में लग जाती, किन्तु जब सारा परिवार अपनी–अपनी व्यवस्थायें खोज लेता है तो मिति को एकांत कचोटने लगता है। तब उसके मन में विवाह के प्रति दबी कामना अनायास ही आह बनकर उभर आती है–"आज से पच्चीस वर्ष पहले जब वह वंर्किग हॉस्टल में शीला के साथ रहती थी, आज से इतनी भिन्न थी कि आज की मनःस्थिति और उस समय की मनःस्थिति में कोई तुलना ही नही है। उस समय वह दुनियां की हर चीज को ठुकरा सकती थी, हर चीज के प्रति उसमें एक गुस्सा था। हर व्यवस्था के प्रति आक्रोश था, लेकिन आज ऐसा लगता है कि जैसे वह समाज के ढ़ांचे को जैसे का तैसा ही रखना चाहती है।"[1]

आधुनिक भावबोध गृहीता नारी स्वयं को पुरूष की सत्ता से मुक्त मानकर चलती है। वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व की दुहाई देती हुई

---

[1] लक्ष्मीकांत वर्मा, तेरा कोटा, पृ0 257

पग–पग पर स्वच्छन्द आचरण द्वारा अपने मन को पुष्ट करती दिखाई देती है। नारी कितनी ही व्यावहारिक होकर जीने का उपक्रम करें उसके अंतरस की रागात्मकता उसे विभिन्न बन्धनों में बाँध देती है।

कभी बेटे के लिए अपना व्यक्तिगत सुख त्याग देती है। 'आपका बंटी' की शकुन, 'मेरी तेरी उसकी बात' की उषा, 'प्रेम अपवित्र नदी' की ब्रजरानी तथा 'दो' की नीमा आदि इसी वर्ग की नारियां हैं। सभी नारी हृदय के हाथों बिककर पुरूष की अनुगता बनी सुखानुभव करती है। 'एक इंच मुस्कान' की अमला, 'कृष्णकली की कली', 'डाक बंगला' की इरा, 'नदी और सीपियां' की स्वर्णा, 'अन्तराल' की श्यामा, 'काँच घर' की माला, 'दण्डद्वीप' की मनीषा आदि पुरूष रागात्मकता में अपनी अस्मिता को नकार देने वाली नारियां हैं। 'डाक बंगला' की इरा जहां आधुनिक परिवेश में जीवनयापन करती है, वहीं अकेली दूर प्रदेशों का स्वच्छन्द भ्रमण करती हैं, वहीं इरा मन ही मन स्वीकारती है–''यहां औरत बगैर आदमी के रह ही नही सकती, चाहे उसके साथ उसका पति हो, भाई या बाप, कोई न हो तो नौकर ही हाँ आदमी की आड़ में चाहे वह काठ का आदमी ही हो तो अच्छी से अच्छी, बुरी से बुरी जिन्दगी शान से चल सकती है। पर बगैर आदमी के न वह अच्छी जिन्दगी जी सकती है न वह बुरी''।[1]

नारी की यौन शुचिता को लेकर भी सामाजिक मान्यतायें परम्परा से हटकर परिसृष्ट नही हो पा रही। नारी विभिन्न क्षेत्रों में पुरूष के सम्पर्क में आने की स्थितियों से गुजरती हैं। कभी वह इच्छा से तो कभी अनिच्छा अथवा धोखे से

---

[1] कमलेश्वर, डांक बंगला, पृ0 46

पुरूष के स्पर्श को सहती है। पुरूष नारी के साथ विभिन्न स्तरों पर सम्बन्ध बनाने के काफी हद तक उदारता का परिचय देता है, किन्तु यही उदारता यदि उसके निजी सम्बन्धों से संदर्भित नारी के प्रति किसी अन्य पुरूष ने बरती है तो वह एकाएक असहिष्णु हो उठता है। वह नारी को अवमानना और घृणा के अतिरिक्त कुछ देने की स्थिति में स्वयं को नही पाता, इस प्रकार नारी स्वातन्त्र्य ने उसके लिए प्रगति के अनेक द्वार भले ही खोले हो किन्तु पुरूष समाज की मान्यतायें उसके शील और संकोच के संदर्भ में आज भी पुराण पंथी हैं। इसका कुपरिणाम भी नारी को ही भोगना पड़ता है। ममता कालिया का 'बेघर' की संजीवनी परमजीत द्वारा विवाह पूर्व ही यौन सम्बन्धों के लिए प्रेरित की जाती है। किन्तु रति क्रिया के समय जव वह यह अनुभव करता है कि वह संजीवनी का पहला पुरूष नही है तो उसे गहरा धक्का लगता हैं। वह उसका सर्वथा परित्याग कर रमा जैसी साधारण स्त्री से विवाह कर लेता है।

इस प्रकार आज की नारी आधुनिकता और परम्परा के द्वन्द्व में जूझ रही है, यह दुनिया उसकी स्वयं की भी है और और समाज के वाह्य परिवेश और मान्यताओं की भी है। नारी एक ओर तो अपने व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए अपने अन्तर में छटपटा रही है, दूसरी ओर उस छटपटाहट से परित्राण पाने में स्वयं को विवश पा रही है। यही दुविधा उसके मानस को तनाव से भर देती है। इसी का परिणाम है कि वह पहले की अपेक्षा स्वतन्त्र होकर भी सन्तुष्ट नहीं है।

(५) युगीन संत्रास, कुण्ठा, आक्रोश और टूटन के संदर्भ में नारी की मानसिकता :

समकालीन परिवेश में व्याप्त मानवीय कुण्ठा, संत्रास, आक्रोश एवं टूटन के संदर्भ में आज के साहित्य में प्रायः चर्चा की जाती है कि अभी तक नारी चेतना से जुड़ी इन स्थितियों का चित्रांकन पुरूष लेखक करते थे, यह उनका भोगा यथार्थ नहीं होता था। अपने प्रातिम ज्ञान के बल पर नारी कें अन्तराल में उपस्थित अनुभूतियों को वह पन्नों पर उतारने की चेष्टा करते थे किन्तु आज जब नारी ने स्वयं अपने हाथों में कलम पकड़ ली है तो उसकी व्यथा कथा को उससे ज्यादा वास्तविकता से और कौन व्यक्त कर सकता था?

स्वाधीनता के उपरान्त जिस व्यक्ति विशेष का चित्रण हिन्दी उपन्यासों में मिलता है वह प्रेमचन्द्र, जैनेन्द्र एव अज्ञेय के व्यक्ति विश्लेषण से हटकर नई लीक पर मिलता है। नारी के संदर्भ तो और भी बदले हैं। परिस्थितियों से अविरल जूझते हुए वह विजयिनी होने के लिए सतत् प्रयत्नशील है। वस्तुस्थिति के यथार्थ को समझते हुए उसमें आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति है; जो एक व्यापक सामाजिक संदर्भ से उसे जोड़ती है तो दूसरी ओर उसे आत्म स्वीकृति का साहस भी देती है। आज की नारी के लिए अपनी निजता एवं आन्तरिक वैयक्तिकता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वहीं सामाजिक समस्यायें भी अनिवार्य है क्योंकि वे उसकी अभिनव अर्थवन्ता की व्यापक परिणति के साथ सम्बद्ध होती है। अतः नारी के वाह्य आचरण एवं उसके अन्तः संघर्ष को व्यापक पृष्ठ अनुभूति के धरातल पर

परखने की चेष्टा हिन्दी उपन्यासों में पायी जाती है। सामूहिक चेतना की अपेक्षा वैयक्तिक चेतना को प्रश्रय देने के कारण नारी की वैयक्तिक कुण्ठा, निराशा उसे दिशाहारा की भांति उपन्यासों में चित्रित कराती है। समुदाय के स्थान पर व्यक्ति तथा परम्परागत आदर्शों के स्थान पर विद्रोह को ही स्वर देने की चेष्टा आधुनिक उपन्यासों में मिलती है। साम्प्रतिक द्वन्द्वात्मकता व्यक्ति के विघटन का प्रमुख कारण है–"आधुनिकता की एक विडम्बना यह है कि हमें दोहरा व्यक्तित्व दे दिया गया है। घर पर हम घोर धार्मिक, परम्परावादी, नैतिकतावादी और रूढ़ होते हैं। पर घर के बाहर हम प्रगतिशील होने, नारी की स्वतन्त्रता का पक्षपाती होने और अछूतों के साथ समानता स्थापित करने की हवाई बातें करते हैं। यही अन्तरविरोध, कृत्रिमता और द्वन्द्व अन्ततः मूल्यहीनता, विघटन, संत्रास एवं निरर्थकता के बोध को जन्म देता है"।[1]

समकालीन उपन्यासों में चित्रित नारी पात्रों में युगीन संत्रास, आक्रोश, टूटन को अनेक स्तरों पर स्वर दिया गया है। रोटी की भूख, यौन अतृप्ति, सामाजिक विसंगतियाँ, संत्रास, भय, मृत्युबोध को पनपाती है। 'एक इंच मुस्कान' की अमला, 'आपका बंटी' की शकुन, 'अन्तराल' की श्यामा, 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा, 'कृष्णकली' की चम्पा तथा 'लाल टीन की छत' की काया, 'उसका शहर' की एगमी, 'पैरों के छाले' की सबा, 'दो' की नीमा, 'अलग–अलग वैतरणी' की कनिया, 'सफेद मेमने' की बन्ना, 'खारे जल का गाँव' की चनकी, 'जल टूटता हुआ' की शारदा, 'प्रेम अपवित्र नदी' की शिवानी, 'मुर्गीखाना' की इरा,

[1] डॉ0 सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास, पृ0 125

'बेघर' की संजीवनी, 'टेरा कोटा' की मिति, 'कच्ची पक्की दीवारें' की आभा देवी, 'गली आगे मुड़ती है' की आरती, 'अनाम स्वामी' की वसुन्धरा देवी ऐसी ही नारियां हैं जो आत्मविरत एवं आत्म निर्वासितायें है। उनमें घोर वैयक्तिकता के परिणाम स्वरूप कुण्ठा, संत्रास एवं मृत्युभय परिव्याप्त है। उनमें कभी शारीरिक और कभी मानसिक स्तर पर विद्रोह उभरता है तो कभी वे सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ स्वर उठा देती हैं।

नारी का सामाजिक क्षेत्र व्यापक हो जाने के कारण उसका वैयक्तिक क्षेत्र सीमित होता जा रहा है। वह सामाजिक सामंजस्य बनाये रखने के उपक्रम में कभी–कभी स्वयं को एकदम निरूपाय एवं असमर्थ अनुभव करती है। अपनी निजता खोकर कोरी आदर्शवादिता ओढ़कर वह संतुष्ट नहीं होती। उसके अन्तर्जगत और वाह्यजगत का यह द्वन्द्व ही उसमें युगीन कुण्ठाओं, आक्रोशों एवं निराशाओं को जन्म दे रहा है।

(६) नैतिकता–अनैतिकता के संदर्भ में चित्रित नारी की मानसिकता :

युग परिवर्तन ने नारी चेतना को विविध स्तरों पर आन्दोलित किया है। परिणाम स्वरूप उसकी निजी मान्यताओं एवं स्थापनाओं का प्रणयन होना स्वाभाविक था। अपने प्रति चले आ रहे सामाजिक मानदण्डों की पुन:व्याख्या करवाने की उसकी दलील बल पकड़ती जा रही है। बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसकी आचरण सम्बन्धी नैतिकता और अनैतिकता की परिभाषा एवं मुहावरो की अभिनव अर्थवत्ता की आवश्यकता आधुनिक नारी ने अनुभव की तथा समय–समय पर स्वतन्त्र विचार सम्प्रेषण में वे निसंकोच आगे बढ़ी। हिन्दी उपन्यासों में नैतिकता–अनैतिकता के संदर्भ में नारी की मानसिकता के अनेक उदाहरण रखे गये हैं।

यौन सम्बन्धों को लेकर पवित्रता, स्थायित्व तथा इसके प्रयोजन से सम्बन्धित विश्वास बदल रहे हैं और उसमें नये आयाम जुड़ रहे हैं। आज की शिक्षित नारी हो या ग्रामीण युवती। ये परिवर्तित आस्था दोनो वर्गों की नारियों में परिलक्षित होती है। नैतिकता के लिए जो दोहरा मापदण्ड था उसके सम्बन्ध में शिक्षित स्त्रियों का दृष्टिकोण बहुत काफी बदल गया और अधिक से अधिक स्त्रियां इस दोहरे मापदण्ड को आपत्तिजनक मानने लगी हैं, लेकिन पुरूष वर्ग तथा समाज का इस तरफ क्या दृष्टिकोण है ? स्त्रियों के जैसा उनके दृष्टिकोण में इस

तेजी से परिवर्तन नही आया, पुरूष तो अभी भी दोहरा मापदण्ड अपने लिए एक और स्त्री के लिए दूसरा लिये बैठा है।[1]

नारी और पुरूष के नैतिकता–अनैतिकता के सम्बन्ध में दोहरे मानदण्डों ने इन दोनो वर्गो के मध्य एक द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न कर दी हैं, जिससे दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव, कलह और असमायोजन की स्थिति हो गयी है।

'अन्तराल' (मोहन राकेश) की श्यामा पति की मृत्यु के उपरान्त प्रेमी से शारीरिक सम्बन्ध इस कारण नहीं बना पाती कि वह नैतिकता की परम्परा से मुक्त नहीं हो पायी है। बार–बार भावात्मक स्थिति उसे प्रेमी के निकट खड़ी कर देती है किन्तु आन्तरिक वर्जनायें उसे नये साथी का वरण करने की अनुमति नही देती, इसके विपरीत सीमा निर्द्वन्द्व भाव से अपने पुरूष मित्रों के साथ मौज मस्ती करती है।

'डाक बंगला' की इरा पुरूष का सच्चा प्यार पाने की चाह में नैतिकता की सारी सीमाएं लांघती जाती है किन्तु 'सूरजमुखी अंधेरे की', रत्ती स्वयं को नैतिक दृष्टि से सक्षम अनुभव न कर पाने की व्यवस्था में पुरूष का आमंत्रण बार–बार ठुकराती है।

[1] डॉ0 प्रमिला कपूर, कामकाजी भारतीय नारी, पृ0 39

'सीमायें टूटती हैं', की चाँद जिसे कभी अंकल कहती थी, उसे ही देहार्पण करने में संकोच का अनुभव नहीं करती। 'एक इंच मुस्कान', की अमला कई पुरूषों के निकट सम्पर्क में आती है और स्वच्छन्द आचरण द्वारा अपनी निरद्वंद्वता का परिचय देती है।

'दण्डद्वीप', की मनीषा अविवाहित होकर मातृत्व का भार उठाती है। 'जल टूटता है', की बदमियां अपने से जाति और वर्ग में भिन्न कुंजू तिवारी की संतान को विवाह से पूर्व गर्भ में धारण करती है। अपने पर लगाये गये आक्षेपों का वह दो टूक उत्तर देती हैं–''ये गिरने गिराने का काम आप लोगों के घर बामिनियां करती हैं मुझसे किसी का कुछ छिपा हुआ नही है औरों के घर का तमाशा देखने सभी जुट जाते हैं, अपने घरों की ओर नहीं देखते। मैं पेट क्यों गिरवाती क्या यह कोई पाप का बच्चा है? यह अपने बाप का बच्चा है''।[1]

'पुनर्नवा' की चन्द्रा, 'मेरी तेरी उसकी बात' की उषा, अनाम स्वामी की वसुन्धरा, 'प्रेम अपवित्र नदी' की ब्रजरानी, शिवानी लिलयन, 'गली आगे मुड़ती है' की लाजवंती, 'कच्ची पक्की दीवारें' की आभा देवी, 'सफेद मेमना' की बन्नना ऐसी नारियां हैं, जो नैतिकता की परम्परागत मान्यताओं को ठुकराती हुई नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना करती हैं। आधुनिक उपन्यासों में वास्तव में सामाजिक स्वीकृति और अस्वीकृति के संदर्भ में असम्पृक्त नारी की वैयक्तिकता के चित्र बहुत

---

[1] रामदरस मिश्र, जल टूटता हुआ, पृ0 53

कम है। सही स्थति यह है कि भारतीय नारी के चित्र विसंगतियों से जूझती तथा दोहरे मापदण्डों से संत्रस्त हुए समूचे नारी वर्ग के चित्र हैं। इनके वैविध्य की समष्टिगत तस्वीरें इन उपन्यासों में पायी जा सकती हैं। पात्र और कथा तो माध्यम मात्र है, असली रूप इनकी मानसिकता ही है, जो इन्हें जीवन्त बनाती है। पात्र तो परिस्थितियों की उपज मात्र है।

*

षष्ठ अध्याय

उपसंहार एवं उपलब्धि :

आधुनिक कालीन साहित्य की विधा उपन्यास में पुरूष कृतिकों के साथ नारी उपन्यासकारों ने भी अपनी उंगलियों में कलम थाम कर काल्पनिक कथानकों और पात्रों के माध्यम से अपने परिवेश में मौजूद तत्वों, कथ्यों, दृश्यों को अपनी अंतश्चेतना में समायोजित कर उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। उसने जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से अभिज्ञा प्राप्त की, उसे सामाजिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक संदर्भ में उस गहराई से अनुभूत किया, जो उसकी चेतना की गहराइयों को अह्लाद अथवा अवसाद की सम्वेदनाओं से सराबोर कर देता है। उसकी लेखनी से निस्सृत कामनाओं की डोर थामकर सम्भावनाओं के असीम आकाश में उड़ाने हैं, विज्ञान के नव्य आलोक में बदलते परिबोध की प्रस्तुतियां हैं; परिशोध्यमान युगानुरुप परिवर्तित जीवन मूल्यों का स्वागत है, तर्कहीन आस्थाओं, रूढ़ियों, अनावश्यक परम्पराओं तथा आवांछित मान्यताओं के प्रति मोह-भंग, आधुनिकता का स्वागत, स्वतन्त्रता के प्रति ललक, धर्मनिर्पेक्षता के प्रति सदाशयता, अनुचित के प्रति विद्रोह, सतीत्व तथा नैतिकता की नवीन परिभाषाओं के प्रति प्रतिबद्धता तथा परिवर्तन के अभिनन्दन के विकास मूलक समारोह हैं। साथ ही सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक परिस्थितियों की विसंगतियों, आधुनिकता और परम्परा के द्वंद्वों, युगीन संत्रास, कुण्ठा, आक्रोश और टूटन की विपरीतताओं, नैतिकता, अनैतिकता के प्रति दोहरे सामाजिक मानदण्डों से आहत नारी के विविध सरोकार नारी उपन्यासकारों के प्रमुख कथ्य हैं। इस अनुसंधान कार्य से अनुसंधित्सु नारी की विविध धनात्मक और ऋणात्मक परिस्थितियों से परिचित हो सकी। यद्यपि

बहुत कुछ बदला है, बहुत कुछ अच्छा हुआ है तो भी बदलती संस्कृति, बदलते मूल्य, बदलती नैतिकता, वैज्ञानिक प्रवृत्ति, वैश्विक संस्कृति का प्रभाव आदि तत्व नारी को अनुकूलता ही नहीं दे रहे हैं, इन सबकी मौजूदगी के उल्लास में नारी जब धरती से गगन की यात्रा प्रारम्भ करती है, तो उसे तब बहुत बड़ा आघात लगता है, जब वह महसूस करती है कि आकाश उससे अब भी उतनी ही दूरी पर है। रूढ़ियों, परम्पराओं, ऋणात्मक मान्यताओं तथा पुरुष-प्रधान समाज की छद्म स्वतन्त्रताओं के कारण धरती का गुरूत्वाकर्षण उसे अन्तरिक्ष-यात्रा के लिए अनुमति नहीं देता। केवल नारी अंतरिक्ष यात्रा के युग में प्रवेश कर चुकी है, इस प्रकार का प्रचार करता है, ऐलान करता है और नारी की पीठ ठोकता है। तब की बात और थी जबकि नारी स्वाधीनता, नैतिकता, वैयक्तिकता तथा स्वाभिमान का अर्थ नही जानती थी। आज के जीवन के हर क्षेत्र में उसकी समझ और सहकारिता पुरूष से टक्कर ले रही है। तब नारी जानकर अनजानी-सी भ्रान्ति, छल, शोषण, उत्पीड़न, पराधीनता तथा दोहरे मानदण्डों का जीवन स्वीकृति पूर्वक कैसे जी सकती है, किन्तु उसकी कोमल शारीरिक तथा मानसिक संरचना, संवेदनशीलता, समर्पणशीलता उसे निर्मम, क्रूर, स्वार्थी और हृदयहीन इस सीमा तक नही बनने देते, कि परिवेश में उसकी स्थापनाओं और स्वीकृतियों का साम्राज्य स्थापित हो सके। नारी संचेतना इस यथार्थ का सूक्ष्म साक्षात्कार करती है और वह अनुभूति की गहराइयों में पैठकर नारी उपन्यासकारों के कथ्य का आधार बनती है। वेदना की अधिकता, कष्टों तथा संकटों की बारम्बारता मनुष्य को आत्मवद्ध बना देती है, इस प्रकार आत्मवद्ध की सारी दुनिया उसे परायी प्रतीत होती है, अपरम्पार दूरियां फैल जाती हैं। एक ओर अपनी निस्सहायता की भावना से आत्म विश्वास

का लोप होता है, तो दूसरी ओर किसी अन्य पर विश्वास करने की क्षमता कम होती है। वेदना बुरी होती है वह व्यक्ति को व्यक्तिवद्ध बना देती है। वस्तुतः वासना भी व्यक्तिवद्ध होती है और वेदना भी। वासना और उसकी अधिकता मनुष्य को घनघोर रूप से उसको 'आत्मबद्ध' बना देती है। वासनाशील व्यक्ति अपने रंगीन सपनों की दुनियाँ में रहता है। वह निजबद्ध और आत्मग्रस्त हो जाता है। अपनी उस अहंवद्धता का वह आदर्शीकरण भी करता है। उसी तरह वेदना भी व्यक्ति को सीमित, संकुचित और व्यक्तिबद्ध करती है।[1] परम्परा से ही साहित्य सृजन के मूल्यों में मानव हृदय की ये दोनों प्रवृत्तियां 'वासना' और 'वेदना' कार्य करती रही हैं, दोनों के केन्द्र में नारी ही रही है।या तो नारी को वासना के केन्द्र बिन्दु में रखकर साहित्य-सृजन हुआ या फिर उसकी वेदना को वाणी देने के प्रयास में।दोनों ही स्थितियों में साहित्य सृजन में नारी की इन प्रवृत्तियों का सरलीकरण हुआ है। आधुनिक युग की नारी उपन्यासकारों ने इन दोनों प्रवृत्तियों के सतहीपन को तोड़ा है और उसे अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक धरातल देने की कोशिश की है। विशेष रूप से 'नारी मन' को सामने रखकर जो साहित्य रचा गया है, उसमें वासना और वेदना के विविध स्तरों को व्यापक आयाम देने की कोशिश की गयी है। व्यक्तिबद्ध वेदना और व्यक्तिबद्ध वासना साहित्य के अनेक उद्गम श्रोतों में से स्वयं दो हैं। इन दो श्रोतों ने साहित्य में जो उपमायें और जो प्रतीक प्रदान किये हैं, उनमें से भावों का औदार्य न सही तो भी भावों की तीव्रता बहुत अधिक होती है।

---

[1] गजानन मुक्तिबोध– विपात्र, प0 59–60, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

उपन्यास का क्षेत्र मनुष्य जीवन के व्यापक संदर्भो को स्पर्श करने वाला और यथार्थ जीवन की गत्यात्मकता के अधिक निकट होने के कारण मानव चरित्र और उसकी समस्याओं और स्वीकृतियों को यथार्थ रूप में अंकित कर सकता है। नारी उपन्यासकारों की कृतियों में कुछ अत्याधुनिक नारी रूपों में निरर्थकता के विद्रूप चित्रण भी कथ्य बन सके हैं, किन्तु उन्हें तमाम नारी पात्रों की मानसिकता नहीं कहा जा सकता। नारी उपन्यासकारों की कृतियों में चित्रित नारी हमारे जीवन के समीप है और यह समीपता मात्र फैशन के वशीभूत होकर नही, वास्तविक अर्थों में है। इनमें चित्रित विसंगति अरोपित नही है, यथार्थ जीवन के निकट है। काल प्रवाह के साथ नारी की बहिरंग और अन्तरदशा में बदलते युग और बदलती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में जो परिवर्तन हुआ उसका प्रभाव नारी उपन्यासों में चित्रित नारी चरित्र पर भी पड़ा। छठें, सातवें, आठवें, नवें तथा शताब्दी के अन्तिम दशक के नारी चरित्रों और उसके परिवेश में परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट देखे जा सकते हैं।[1] सन् 1970 और उसके बाद के उपन्यासों में नारी रूपों में बहुत बड़ा परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।इनमें सारे परम्परागत रूपों को नष्ट–भ्रष्ट करके यथार्थ को नग्न रूप में चित्रित किया गया है। इस युग की महिला उपन्यासकारों ने यौन–वर्जनाओं की अस्वीकृति का चित्रण बहुत बेबाकी से किया है। कृष्णा सोवती, ममता कालिया, कृष्णा अग्निहोत्री के उपन्यास इस कथन के साक्षी है"।[2]

---

[1] डॉ0 एन0 डी0 समाधिया–हिन्दी उपन्यासों में नारी चरित्र, पृ0 97।

[2] विमला शर्मा–शाठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप, पृ0 338। संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1987।

नारी उपन्यासों के सम्यक् परिशीलन के उपरान्त अनुसन्धित्सु इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि नारी उपन्यासकारों ने व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक दृष्टि, समूहवादी मनोवैज्ञानिक दृष्टि, परम्परागत दृष्टि, अधुनातन दृष्टि, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिप्रेक्ष्य में वहिंरग और अन्तरंग दृष्टि के आधार पर अपने कथ्य का निर्धारण किया है। निष्कर्षतः यहां भी कहा जा सकता है कि नारी उपन्यासों में चित्रित पुरूषों की मानसिकता अभी तक नारी के सम्बन्ध में प्रायः पारम्परिक ही है। उसमें मौलिक परिवर्तन नही आया है। 'बेघर' (ममता कालिया) की संजीवनी, सूरजमुखी अंधेरे के (कृष्णा सोवती) की रति, अथवा आपका बंटी (मन्नू भण्डारी) के नारी पात्र पुरूष के अहं का शिकार बनते हैं। इन उपन्यासों के नारी चरित्र अपने अहं की रक्षा तो करना चाहते हैं, किन्तु इनके जीवन में स्थिरता का आभाव है। यह स्थिरता नारी तभी पा सकती है जब वह अपने आदिम संवेगों पर विजमिनी बन पुरूष की सबल बाहों का मोह झुठलाने का साहस संजोले। तब उसे अपनी किसी स्थिति के लिए पुरूष के सामने 'जस्टीफिकेशन' की आवश्यकता नही होगी"।[1]

पारम्परिक पुरूष सोच के अनुसार नारी का शाश्वत् स्वरूप सैक्सी ही है। नारी उपन्यासकारों ने इस मान्यता को खण्डित करने की चेष्टा की है। नारी केवल 'देह' नही, जिसे पुरूष अपनी रूचि के अनुसार भोग सके बल्कि उसकी देह में अटका वह सूक्ष्म चेतन तत्व भी है, जो अपनी निजी इच्छायें, रूचि–अरूचि एवं आवश्यकता का बोध करा सकता है। आर्थिक मूल्यों पर यदि नारी देह

[1] ममता कालिया से डॉ0 विमला शर्मा की मौखिक बात–चीत के आधार पर–शाठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप, पृ0 340 से उद्धृत।

उपलब्ध हो भी जाय तो भी उसकी सम्पूर्णता को पा लेना प्रत्येक पुरूष के वश की बात नहीं है। कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के', ममता कालिया का 'बेघर', रजिया फसीह सिद्दीकी का 'पैरों के छाले', उषा प्रियम्बदा का पचपन खम्भे लाल दिवारें, मन्नू भण्डारी का आपका बंटी, शिवानी का कृष्णकली, ऐसे ही उपन्यास हैं, जिनमें नारी की अन्तरंग एवं वहिरंग मानसिकता का ऐसा चित्रण मिलता है, जिससे स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि नारी की एक स्वतन्त्र अस्मिता है और विभिन्न व्यवस्थाओं के जाल में फँसकर भी वह अपने नारीत्व की स्वतन्त्र पहचान बनाये रख सकती है।

उषा देवी मित्रा, कृष्णा सोवती, शिवानी, उषा प्रियम्बदा, शशिप्रभा शास्त्री, मेहरून्निशा परवेज, मन्नू भण्डारी, निर्मला बाजपेई, ममता कालिया, श्रीमती मालती परूलकर, मीनाक्षी पुरी, कृष्णा अग्निहोत्री, क्रान्ति त्रिवेदी, कांता भारती, कुसुम अंसल, मंजुला भगत, निरूपमा सेवती, दीप्ति खण्डेलवाल, सूर्यबाला, सुनीता जैन, मृदुला गर्ग, मालती जोशी, शुभा वर्मा, दिनेश नन्दिनी डालमियां, प्रतिभा सक्सेना, बिन्दु सिंन्हा, मृणाल पाण्डेय, सुमति अय्यर, सुधा गोयल, सुभद्रा, प्रतिभा वर्मा, बाला दुबे, मणिका मोहिनी, डॉ0 मिथिलेश कुमारी मिश्र, उषा चौधरी, क्षमा शर्मा तथा राजी सेठ आदि प्रमुख महिला उपन्यासकारों की कृतियों का अनुसंधानपरक अनुशीलन करने पर अनुसंधायिका इस तथ्य तक पहुँची है कि अति व्यापक विस्तार में समाये नारी उपन्यासकारों का मुख्य कथ्य अधोप्रस्तुत बिन्दुओं के अर्न्तगत विचारणीय है—

1. नारी की अन्तरंग मानसिकता तथा वहिरंग प्रासंगिकता का विविध रूपों में अंकन।

2. सामाजिक अथवा सामूहिक चेतना के साथ नारी की वैयक्तिक चेतना की प्रस्तुति।

3. 'घर' और 'बाहर' में सामंजस्य बनाये रखने के उपक्रम में तनाव, अनास्था, घुटन एवं टूटन से व्यथित नारी मानसिकता का चित्रण।

4. नगरीय तथा ग्रामीण अंचलों में जाति, धर्म एवं वर्गगत तथा परम्पराओं से मुक्ति का संघर्ष करती नारी का चित्रण।

5. विधवा, वेश्या जैसी उपेक्षित नारियों के प्रति सहानभूतिपूर्ण रूख की अभिव्यक्ति।

6. युवा पीढ़ी के विवाह संस्था से हट रहे विश्वास का चित्रण।

7. नारी की यौन कुण्ठा का विशेष चित्रण।

8 समाज में व्याप्त पुरूष के लिए अलग और नारी के लिए अलग कर्तव्य तथा चरित्र के मानदण्डों के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति।

9 भूमण्डलीय संस्कृति के मनोवांछित तत्वों के प्रति स्वीकृति।

10. रूढ़ियों, अनुचित परम्पराओं, दूषित मान्यताओं के प्रति अरूचि का चित्रण।

11. आधुनिकता, स्वतन्त्रता तथा प्रगतिगामी परिवर्तन के प्रति स्वीकृति की अभिव्यक्ति।

परिशिष्ट

(क) उपजीव्य ग्रंथ :

उपन्यास का नाम, लेखिका, प्रकाशक और प्रकाशन वर्ष :

1. उसके हिस्से की धूप, मृदुला गर्ग,राजकमल पेपर वर्क्स, दिल्ली–1977
2. चित्त कोबरा, मृदुला गर्ग, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली–1979
3. पचपन खम्भे लाल दीवारें, उषा प्रियम्बदा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली–1979
4. रूकोगी नही राधिका, उषा प्रियम्बदा,अक्षर प्रकाशन, दिल्ली–1967
5. भूमिजा, सुधा गोयल–विवेक प्रकाशन, दिल्ली–1989
6. पटाक्षेप, सुधा गोयल–विवेक प्रकाशन, दिल्ली–1995
7. अलाव, सुधा गोयल–विवेक प्रकाशन, दिल्ली–1995
8. महाभोज, मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन दरियागंज, दिल्ली–1979
9. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन दरियागंज, दिल्ली–1979
10. डार से बिछुड़ी, कृष्णा सोवती, राज कमल प्रकाशन, दिल्ली–1958
11. मित्रो मरजानी, कृष्णा सोवती, राज कमल प्रकाशन, दिल्ली–1969
12. नरक–दर–नरक, ममता कालिया, लोक भारती प्रकाशन, दिल्ली–1975
13. बेघर, ममता कालिया, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद–1971
14. कृष्णकली, शिवानी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन–1969
15. चौदह फेरे, शिवानी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन–1972

(ख) उपस्कारक ग्रंथ :

उपन्यास का नाम, लेखिका, प्रकाशक और प्रकाशन वर्ष :

1. नावें, शशि प्रभा शास्त्री, दिल्ली, 1974
2. दहकन के पार, निरूपमा सेवती, दिल्ली, 1982
3. अकेला पलाश, मेहरून्निशा परवेज, दिल्ली, 1981
4. कोरजा, मेहरून्निशा परवेज, दिल्ली, 1977
5. अपनी–अपनी यात्रा, कुसुम अंसल, दिल्ली, 1981
6. टुकड़ों में बंटा इन्द्र धनुष, प्रभा सक्सेना, दिल्ली, 1980
7. पंकजा, डॉ0 कंचन लता सब्बरवाल, इलाहाबाद, 1971
8. उसका घर, मेहरून्निशा परवेज, दिल्ली, 1972
9. पारू ने कहा था, मणिका मोहिनी, दिल्ली, 1982
10. श्मशान चम्पा, शिवानी, दिल्ली, 1978
11. बीते हुए, शुभा वर्मा, दिल्ली, 1982
12. समर्पण का सुख, मालती जोशी, दिल्ली, 1979
13. पतझड़ की आवाजें, निरूपमा सेवती
14. सहचारिणी, मालती जोशी, दिल्ली, 1979
15. क्योंकि, शशि प्रभा शास्त्री, दिल्ली, 1980
16. स्वामी, मन्नू भण्डारी, दिल्ली, 1982
17. कृष्णवेणी, शिवानी, 1999

18. वे कभी नहीं लौटें, उषा चौधरी
19. अनुगूंज, सुनीता जैन
20. कन्दील का धुंआ, दिनेश नन्दिनी डालमियां, दिल्ली, 1980
21. वीरान रास्ते और झरना, शशि प्रभा शास्त्री, दिल्ली, 1977
22. शर्त, प्रतिभा सक्सेना
23. एक औरत की जिन्दगी, शुभा वर्मा,दिल्ली, 1978
24. बोझ, बाला दुबे, दिल्ली, 1980
25. सुरगंमा, शिवानी, दिल्ली, 1978
26. टेसू की टहनियाँ, कृष्णा अग्निहोत्री, जयपुर, 1980
27. रेत की मछली, कान्ता भारती, इलाहाबाद, 1976
28. अमलतास, शशि प्रभा शास्त्री, प्रथम संस्करण
29. अनुगूँज / मरणातीत, सुनीता जैन
30. तुम सुन्दर हो, बिन्दु सिंहा, सा0 हिन्दुस्तान, 1979
31. प्रतिध्वनियाँ, दीप्ति खण्डेलवाल, दिल्ली, 1978
32. फ़ीलान्सर, शुभा वर्मा, दिल्ली, 1981
33. उसकी पंचवटी, कुसुम अंसल, दिल्ली, 1976
34. अन्तिमा, क्रान्ति द्विवेदी
35. कुमारिकाएं, कृष्णा अग्निहोत्री, दिल्ली, 1978
36. कैंजा, शिवानी, दिल्ली, 1975
37. मणिक, शिवानी, दिल्ली, 1972

38. रति विलाप, शिवानी, दिल्ली, 1975

39. सुबह होती है शाम होती है, प्रतिभा वर्मा, दिल्ली, 1982

40. बिन्दु/बोज्यू, सुनीता जैन

41. नष्टनीड़, उषादेवी मित्रा, दिल्ली, 1980

42. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त

43. कामायनी, जयशंकर प्रसाद

44. राम चरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास

45. विरूद्ध, मृणाल पाण्डे, दिल्ली, 1979

46. परछाँइयों के पीछे, शशि प्रभा शास्त्री, दिल्ली,1979

47. अजन्मी आत्मा की बाहें, सुभद्रा, दिल्ली,1979

48. वंशज, मृदुला गर्ग, दिल्ली, 1978

49. बेगाने घर में, मंजुल भगत, दिल्ली, 1978

50. अनारो, मंजुल भगत

51. तृपिता, क्रान्ति त्रिवेदी

52. ज्वालामुखी के गर्भ में, पाषाण युग, दिल्ली, 1978

53. सीढियाँ,शशि प्रभा शास्त्री, दिल्ली, 1976

54. गोपनीय/समर्पण का सुख, मालती जोशी, दिल्ली, 1979

55. सुबह के इन्तजार तक, सूर्यबाला, दिल्ली, 1980

56. सूखा सैलाब, निर्मला बाजपेई, दिल्ली, 1971

57. बंटता हुआ आदमी, निरूपमा सेवती, दिल्ली, 1977

58. गोदान, प्रेमचन्द्र, इलाहाबाद, 1966

59. नई कविता के बाद, डॉ0 ओम प्रकाश अवस्थी, कानपुर, 1974

60. खांतुल, मंजुल भगत, दिल्ली, 1983

61. मनुस्मृति, मनु

62. प्रश्नोत्तरी, आदि शंकराचार्य

63. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त

64. प्रेम अपवित्र नही, लक्ष्मी नारायण लाल

65. काम काजी भारतीय नारी, डॉ0 प्रमिला कपूर

66. दीपशिखा, महादेवी वर्मा

67. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ, डॉ0 शीतल प्रभा वर्मा

68. सारिका, कन्हैया लाल नन्दन

69. समकालीन परिवेश और प्रासंगिक रचना संदर्भ, अशोक हजारे तथा माधव सोनटक्के

70. ईशावास्य उपनिषद, गीताप्रेस, गोरखपुर

71. मूल्य संस्कृति साहित्य और समय, रतना लाहणी

72. मूल्यों की द्वन्द्वात्मकता, विष्णुकांत शास्त्री

73. बदलता समाज और जीवन मूल्य, डॉ0 केदार नाथ सिंह

74. तिरछी बौछार, मंजुल भगत

75. नारी चेतना आरोह, डॉ0 विमला शर्मा

76. नारी संचेतना, डॉ0 देवकी कमल ओझा

77. पुरूष का अहं और नारी की अस्मिता, डॉ0 शैलजा अस्थाना

78. हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास, डॉ0 धनराज मानधाने

79. खारे जल का गाँव, डॉ0 भगवती प्रसाद शुक्ला

80. गली आगे मुड़ती है, शिव प्रसाद सिंह

81. सीमायें टूटती हैं, श्रीलाल सुख

82. अन्तराल, मोहन राकेश

83. साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप, डॉ0 विमला शर्मा, संगम प्रकाशन, इलाहाबाद

84. राजनीति के सिद्धांत, डॉ0 मदन मोहन पाण्डेय

85. प्रिहिस्ट्रिक ऑफ इण्डिया, डब्लू0 किंगसन

86. ऋग्वेद

87. अमलतास, शशि प्रभा शास्त्री

88. तुम्हारे लिए, सुमति अय्यर

89. हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नारी चरित्र, डॉ0 राम विनोद सिंह, शोध साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद

90. उपन्यासकार चतुरसेन नारी पात्र, डॉ0 सूतदेव हंस

91. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, डॉ0 गजानन शर्मा

92. हिन्दी उपन्यासों में नारी चरित्र, डॉ0 एन0डी0 समाधिया

93. विपात्र, गजानन मुक्ति बोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

94. जल टूटता हुआ, रामदरस मिश्र

95. हिन्दी उपन्यास, डॉ0 सुरेश सिन्हा

96. टेरा कोटा, लक्ष्मीकांत वर्मा

97. मेरी तेरी बात, यशपाल

98. श्मशान चम्पा, शिवानी, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1972

99. आधुनिक हिन्दी उपन्यास, नरेन्द्र मोहन, मैकमिलन, दिल्ली, 1975

100. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली, 1966

101. हिन्दी उपन्यास प्रेम और जीवन, शान्ति भारद्वाज, सुशील प्रकाशन, अजमेर, 1939

102. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां, डॉ0शशि भूषण, विनोद पुस्तक मंदिर,आगरा, 1970

103. हिन्दीं उपन्यास विविध आयाम, डॉ0 चन्द्रभानु, पुस्तक संस्थान, कानुपर, 1977

104. हिन्दी उपन्सास का विकास और स्वरूप, डॉ0 सुखदेव शुक्ल

105. स्वामी, मन्नू भण्डारी, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1982

106. सात फेरे अधूरे, मीनाक्षी पुरी, अक्षर प्रकाशन दिल्ली, 1982

107. मुझे माफ करना, दिनेश नन्दिनी डालमियां, पेपर बैक्स, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1976

108. यारों का यार–तिन पहाड़, कृष्णां सोवती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982

109. छुटकारा, ममता कालिया

(ग) पत्र पत्रिकायें :

1991 में गाँधी महाविद्यालय, उरई में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय सेमिनार जीवन मूल्य विविध आयाम में निदेशक का निवेदन शीर्षक आत्म कथ्य से (निर्देशक थे डॉ0 दिनेश चन्द द्विवेदी)।

*